संयम स्वर्ण महोत्सव (२०१७-१८) की विनम्र प्रस्तुति क्र० ६०

ज्योतिर्मय निर्ग्रन्थ

(उपन्यास)

(ज्योतिर्मय आचार्यश्री विद्यासागर मुनि महाराज
की दिव्य यात्रा)

लेखक

मिश्रीलाल जैन, एडवोकेट

गुना (म० प्र०)

प्रकाशक

जैन विद्यापीठ

सागर (म० प्र०)

ज्योतिर्मय निर्ग्रन्थ

कृतिकार : मिश्रीलाल जैन, एडवोकेट
संस्करण : २८ जून, २०१७
(आषाढ़ सुदी पंचमी, वीर निर्वाण संवत् २५४३)
आवृत्ति : ५०००
वेबसाइट : www.vidyasagar.guru

प्रकाशक एवं प्राप्तिस्थान

जैन विद्यापीठ

भाग्योदय तीर्थ, सागर (म० प्र०) चलित दूरभाष ७५८२-९८६-२२२

ईमेल : jainvidyapeeth@gmail.com

मुद्रक

विकास ऑफसेट प्रिंटर्स एण्ड पब्लिसर्स

प्लाट नं. ४५, सेक्टर-एफ , इंडस्ट्रियल एरिया गोविन्दपुरा
भोपाल (म० प्र०) ९४२५००५६२४

आद्य वक्तव्य

युग बीतते हैं, सृष्टियाँ बदलती हैं, दृष्टियों में भी परिवर्तन आता है। कई युगदृष्टा जन्म लेते हैं। अनेकों की सिर्फ स्मृतियाँ शेष रहती हैं, लेकिन कुछ व्यक्तित्व अपनी अमर गाथाओं को चिरस्थाई बना देते हैं। उन्हीं महापुरुषों का जीवन स्वर्णिम अक्षरों में लिखा जाता है, जो असंख्य जनमानस के जीवन को घने तिमिर से निकालकर उज्ज्वल प्रकाश से प्रकाशित कर देते हैं। ऐसे ही निरीह, निर्लिप्त, निरपेक्ष, अनियत विहारी एवं स्वावलम्बी जीवन जीने वाले युगपुरुषों की सर्वोच्च श्रेणी में नाम आता है दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज का, जिन्होंने स्वेच्छा से अपने जीवन को पूर्ण वीतरागमय बनाया। त्याग और तपस्या से स्वयं को शृंगारित किया। स्वयं के रूप को संयम के ढाँचे में ढाला। अनुशासन को अपनी ढाल बनाया और तैयार कर दी हजारों संयमी युवाओं की सुगठित धर्मसेना। सैकड़ों मुनिराज, आर्यिकाएँ, ब्रह्मचारी भाई-बहिनें। जो उनकी छवि मात्र को निहार-निहार कर चल पड़े घर-द्वार छोड़ उनके जैसा बनने के लिए। स्वयं चिद्रूप, चिन्मय स्वरूप बने और अनेक चैतन्य कृतियों का सृजन करते चले गए जो आज भी अनवरत जारी है। इतना ही नहीं अनेक भव्य श्रावकों की सल्लेखना कराकर हमेशा-हमेशा के लिए भव-भ्रमण से मुक्ति का सोपान भी प्रदान किया है।

महामनीषी, प्रज्ञासम्पन्न गुरुवर की कलम से अनेक भाषाओं में अनुदित मूकमाटी जैसे क्रान्तिकारी-आध्यात्मिक-महाकाव्य का सृजन हुआ। जिस पर अनेक साहित्यकारों ने अपनी कलम चलायी परिणामत: मूकमाटी मीमांसा के तीन खण्ड प्रकाशित हुए। आपके व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर लगभग ५० शोधार्थियों ने डी॰ लिट्॰, पी-एच॰ डी॰ की उपाधि प्राप्त की।

अनेक भाषाओं के ज्ञाता आचार्य भगवन् की कलम से जहाँ अनेक ग्रन्थों के पद्यानुवाद किए गए तो वहीं नवीन संस्कृत और हिन्दी भाषा में छन्दोबद्ध रचनायें भी सृजित की गई। सम्पूर्ण विद्वत्जगत् आपके साहित्य

का वाचन कर अचंभित हो जाता है। एक ओर अत्यन्त निस्पृही, वीतरागी छवि तो दूसरी ओर मुख से निर्झरित होती अमृतध्वनि को शब्दों की बजाय हृदय से ही समझना श्रेयस्कर होता है।

प्राचीन जीर्ण-शीर्ण पड़े उपेक्षित तीर्थक्षेत्रों पर वर्षायोग, शीतकाल एवं ग्रीष्मकाल में प्रवास करने से समस्त तीर्थक्षेत्र पुनर्जागृत हो गए। श्रावकवृन्द अब आये दिन तीर्थों की वंदनार्थ घरों से निकलने लगे और प्रारम्भ हो गई जीर्णोद्धार की महती परम्परा। प्रतिभास्थलियों जैसे शैक्षणिक संस्थान, भाग्योदय तीर्थ जैसा चिकित्सा सेवा संस्थान, मूकप्राणियों के संरक्षणार्थ सैकड़ों गौशालाएँ, भारत को इण्डिया नहीं 'भारत' ही कहो का नारा, स्वरोजगार के तहत 'पूरी मैत्री' और 'हथकरघा' जैसे वस्त्रोद्योग की प्रेरणा देने वाले सम्पूर्ण जगत् के आप इकलौते और अलबेले संत हैं।

कितना लिखा जाये आपके बारे में शब्द बौने और कलम पंगु हो जाती है, लेकिन भाव विश्राम लेने का नाम ही नहीं लेते।

यह वर्ष आपका मुनि दीक्षा का स्वर्णिम पचासवाँ वर्ष है। भारतीय समुदाय का स्वर्णिम काल है यह। आपके स्वर्णिम आभामण्डल तले यह वसुधा भी स्वयं को स्वर्णमयी बना लेना चाहती है। आपकी एक-एक पदचाप उसे धन्य कर रही है। आपका एक-एक शब्द कृतकृत्य कर रहा है। एक नई रोशनी और ऊर्जा से भर गया है हर वह व्यक्ति जिसने क्षणभर को भी आपकी पावन निश्रा में श्वांसें ली हैं।

आपकी प्रज्ञा से प्रस्फुटित साहित्य आचार्य परम्परा की महान् धरोहर है। आचार्य धरसेनस्वामी, आचार्य समन्तभद्र स्वामी, आचार्य अकलंकदेव, स्वामी विद्यानंदीजी, आचार्य पूज्यपाद महाराज जैसे श्रुतपारगी मुनियों की शृंखला को ही गुरुनाम गुरु आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज, तदुपरांत आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज ने यथावत् प्रतिपादित करते हुए श्रमण संस्कृति की इस पावन धरोहर को चिरस्थायी बना दिया है।

यही कारण है कि आज भारतवर्षीय विद्वतवर्ग, श्रेष्ठीवर्ग एवं श्रावकसमूह आचार्यप्रवर की साहित्यिक कृतियों को प्रकाशित कर श्रावकों के हाथों में पहुँचाने का संकल्प ले चुका है। केवल आचार्य भगवन् द्वारा सृजित कृतियाँ ही नहीं बल्कि संयम स्वर्ण महोत्सव २०१७-१८ के इस पावन निमित्त को पाकर प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रणीत अनेक ग्रन्थों का भी प्रकाशन जैन विद्यापीठ द्वारा किया जा रहा है।

आचार्य गुरुदेव के ऊपर अनेक मनीषियों ने अपनी भक्ति का संचार अनेक विधाओं में लिख करके किया है। किसी की भक्ति-भावना किस रूप में प्रकट हो, कहना असंभव है। इसी क्रम में विश्रुत कवि मिश्रीलाल जैन ने जहाँ अपने काव्यों से अनेक कवि सम्मेलन के मंचों पर अपनी प्रभावकता बनायी है। वहीं उन्होंने आचार्य गुरुदेव की भक्ति करते हुए गद्य शैली में ज्योतिर्मय निर्ग्रन्थ यह उपन्यास रचा है। जो उनके दिवंगत होने के बाद भी उनको अमर बना रहा है। संयम स्वर्ण महोत्सव के अवसर पर प्रकाशित करते हुए हमें हर्ष की अनुभूति हो रही है।

समस्त ग्रन्थों का शुद्ध रीति से प्रकाशन अत्यन्त दुरूह कार्य है। इस संशोधन आदि के कार्य को पूर्ण करने में संघस्थ मुनिराज, आर्यिका माताजी, ब्रह्मचारी भाई-बहिनों ने अपना अमूल्य सहयोग दिया। उन्हें जिनवाणी माँ की सेवा का अपूर्व अवसर मिला, जो सातिशय पुण्यार्जन तथा कर्मनिर्जरा का साधन बना।

जैन विद्यापीठ आप सभी के प्रति कृतज्ञता से ओतप्रोत है और आभार व्यक्त करने के लिए उपयुक्त शब्द खोजने में असमर्थ है।

गुरुचरणचंचरीक

आत्म निवेदन

युग संत आचार्यश्री विद्यासागरजी और आचार्यश्री ज्ञानसागरजी के जीवन–दर्शन पर आधारित उपन्यास है। उपन्यास में १० अक्टूबर, १९४६ से लेकर सन् १९९२ तक के काल–खंड की घटनाएँ समाहित हैं। इस कृति में सदलगा (कर्नाटक) से लेकर क्षेत्र पिसनहारी पर्वतांचल जबलपुर तक की ज्योतिर्मय आचार्यश्री की दिव्य–यात्रा का वृत्तांत है।

इस उपन्यास की संपूर्ण घटनाएँ सत्य एवं प्रामाणिक हैं। एक भी पात्र काल्पनिक नहीं है, उपन्यास का सृजन कल्पना, चिन्तन और अनुभूति के सूक्ष्म स्निग्ध तन्तुओं के बिना सम्भव नहीं है अत: विज्ञ पाठकों से अनुरोध है कि जैन–दर्शन की आचार संहिता पर इसे परखने का प्रयत्न न करें, क्योंकि स्वयं लेखक ने इस कसौटी पर उपन्यास का सम्यक् परीक्षण किया है।

यह कृति मेरी आराधना के सुरभित सुमन का मकरन्द है। इसकी सुरभि पर मैं विस्मित, विमुग्ध हूँ। इस कृति की भाषा, शैली, शिल्प मेरा है किन्तु उपन्यास की आत्मा के रूप में श्री योगसागरजी विराजमान हैं जिन्हें अपने लौकिक जीवन में आचार्यश्री के लघु भ्राता अनन्तनाथ होने का सुयश प्राप्त है। यह उपन्यास उनकी प्रज्ञा, श्रम और आशीर्वाद का अमृत फल है। आचार्यश्री विद्यासागरजी और उनके दीक्षा गुरु स्वर्गीय श्री ज्ञानसागरजी के श्री चरणों में नमन कर उपन्यास निरपेक्ष भाव से पाठकों को प्रस्तुत है। अन्त में पूज्य क्षुल्लक ध्यानसागरजी, आत्मीय श्री सन्मत जैन एडवोकेट, श्री अजित जैन एडवोकेट एवं डॉ श्री गंगासहाय प्रेमी को उनके आत्मीय सहयोग के लिए एवं प्रो. एल. सी. जैन एवं आनंद जैन की प्रस्तावना लिखने एवं निर्दोष मुद्रण के लिए कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

१०.०९.१९९३ **मिश्री लाल जैन**

पृथ्वीराज मार्ग, गुना (म. प्र.) **एडवोकेट**

प्राक्कथन

ज्योतिर्मय निर्ग्रन्थ; युग के महान् तपस्वी संत आचार्यश्री विद्यासागरजी के पवित्रतम जीवन दर्शन पर आधारित उपन्यास है। यह हिन्दी साहित्य में किसी महापुरुष पर उसके ही जीवन काल में, उपन्यास जैसी अप्रतिम लोकप्रिय विधा में लिखी जाने वाली उत्कृष्ट प्रथम कृति है। दर्शन विशुद्धि की ओर मोड़ने वाला है।

यह लघु उपन्यास विरक्ति कला–विज्ञान का महाकाव्य है। इसे स्नेह, वात्सल्य, ममता और आत्मीयता के स्निग्ध निर्मल ध्रुव, अचल एवं अबद्ध अस्पृष्ट करण तन्तुओं से उपन्यासकार ने बड़े कौशल एवं शैली से संजोकर बुना है। करणत्रयी की अगम्य साधना चित्रण का यह एक रूप है। चारित्र विशुद्धि का स्वरूप है।

यह अनुपम कृति लोककल्याण और आत्मकल्याण के पथ पर यात्रा करने वाले यात्रियों, भव्य प्रवासियों को पथ का पाथेय बनेगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

मैं इस उपन्यास को पढ़कर आत्मविभोर, विस्मित और विमुग्ध हुआ हूँ। साथ ही निर्मल परिणामों के निरभ्र नभ में विराग विहीन दिशाओं में निज स्रोत को प्राप्तकर कृतार्थ हुआ हूँ।

आस्तां तवस्तवनमस्तसमस्त दोषं।
त्व संकथापि जगतां दुरितानि हंति॥

१५.०९.१९९४ **प्रोफेसर एल० सी० जैन**

निदेशक

आचार्यश्री विद्यासागर शोध संस्थान

पिसनहारी पर्वतांचल, जबलपुर (म, प्र,)
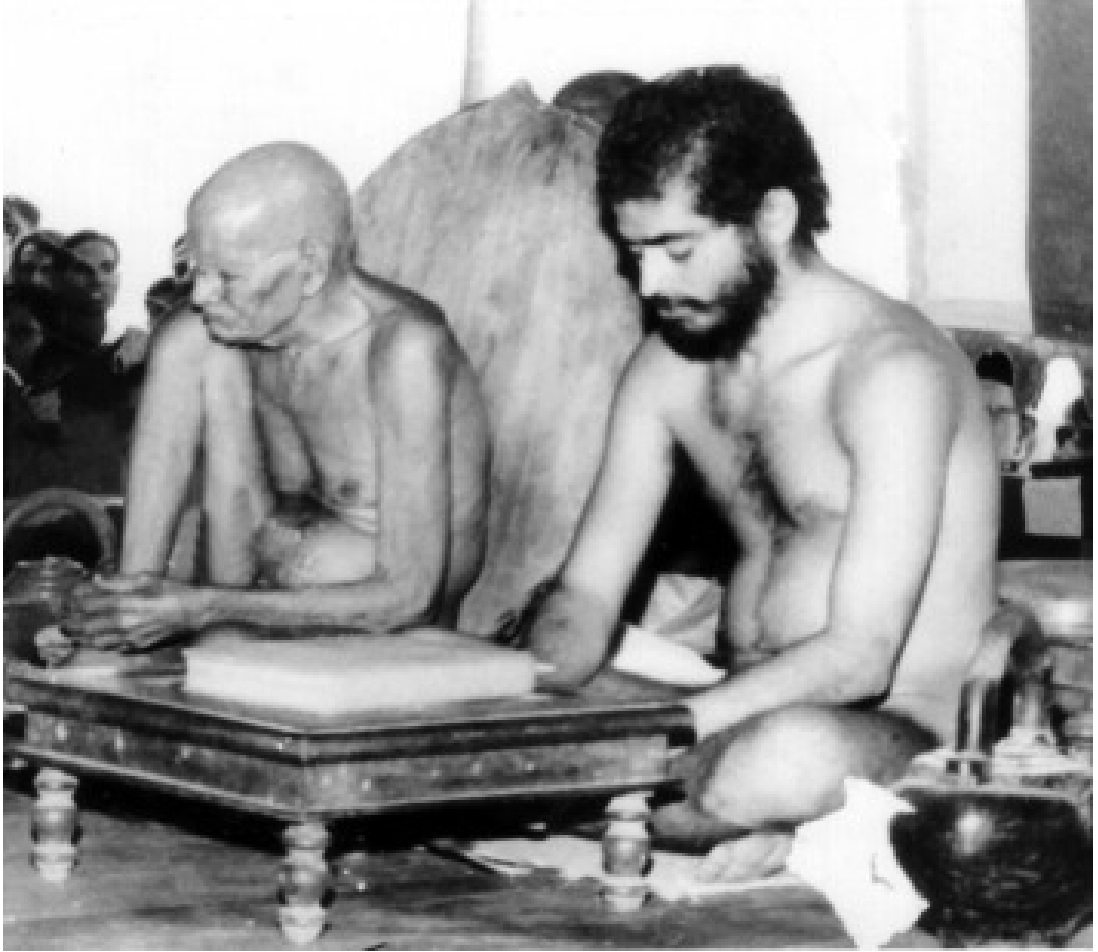
ज्योतिर्मय निर्ग्रन्थ

संध्या के आगमन के साथ ही गाँवों में कोलाहल सांसें तोड़ने लगता है। रात्रि का प्रथम प्रहर आते ही नीरवता व्याप्त हो जाती है। अपरिहार्य कार्यों से भूले-भटके व्यक्ति ही रात्रि में गाँवों में विचरण करते हैं। शिशिर ऋतु प्रारम्भ हो चुकी थी। ग्रीष्म ऋतु की अपेक्षा सूर्य क्षितिज शय्या पर जल्दी ही चला गया था। सम्पूर्ण गाँव में नीरवता व्याप्त थी। रात्रि के प्रथम प्रहर में एक भवन के द्वार पर एक सुन्दर नारी किसी की प्रतीक्षा कर रही थी वह द्वार तक आती द्वार खोलती, फिर भवन के भीतरी भाग में लौट जाती किन्तु जिसकी उसे प्रतीक्षा थी वह नहीं आया। वह नारी द्वार पर खड़ी है, सावधानी पूर्वक पदचापें सुनने का प्रयत्न करती अन्धकार में देखने का असफल प्रयत्न करती। ज्यों-ज्यों रात्रि बढ़ रही थी उसकी व्याकुलता भी बढ़ती चली जा रही थी। रात्रि का प्रथम प्रहर बीतने पर उसकी व्याकुलता और भी बढ़ गई।

सहसा गृह के भीतर से किसी ने पुकारा, वह प्रतीक्षा में इतनी तन्मय थी कि कांप उठी फिर मधुर कंठ में बोली, आयी स्वामी! वह द्वार बंद कर भीतर जाती इसके पूर्व ही गृह स्वामी स्वयं द्वार पर आ गए और बोले, व्यर्थ समय नष्ट मत करो जब उसे आना होगा आयेगा, साँकल बजा लेगा। उसका आने का समय निश्चित है वह सूर्यास्त होते ही घर लौट आता है किन्तु सूर्यास्त होने पर न लौटे, तो समझ लो जब उसे आना होगा आयेगा, उसका घर लौटना जितना निश्चित है उतना ही अनिश्चित।

नारी–''स्वामी। अब आपको उसे नियंत्रण में रखना होगा। अनुशासन सिखाना होगा। आप तो उससे कुछ कहते नहीं, मैं उसकी दिन चर्या से चिन्तित हो उठी हूँ?''

गृह स्वामी–''इसमें चिन्तित होने की क्या बात है?''

नारी– ''अच्छा इसमें चिन्तित होने की कोई बात नहीं है? कभी रात्रि में विलम्ब से आता है और कभी आता ही नहीं है। उसकी आयु बारह वर्ष की है और वह घर रात्रि में विलम्ब से लौटता है। सत्य तो यह है कि तुम स्वयं भी चिन्तित हो किन्तु मेरी चिन्ता न बढ़े इसलिए ऐसी बातें कर रहे हो।''

गृह स्वामी– ''नहीं मैं जो कह रहा हूँ वह यथार्थ है। अपना पुत्र सरल और कोमल प्रकृति का बालक है। तुम उसे प्रतिदिन तीर्थंकरों, ऋषि, मुनियों की कथाएँ सुनाती रहती हो। मैं उससे प्रतिदिन पूछता हूँ, देवदर्शन को गया कि नहीं। जो संस्कार हम अपने पुत्र को दे रहे हैं बार-बार दोहरा रहे हैं उनके स्मृति चिह्न उसके मस्तिष्क में बनते जा रहे हैं तदनुकूल वह आचरण करने लगा है।''

नारी–''धार्मिक संस्कारों से और समय पर घर न आने में क्या सम्बन्ध है? हम माता-पिता का दायित्व निभा रहे हैं, क्या कोई बुरा कार्य कर रहे हैं?''

गृह स्वामी– ''नहीं, मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि हम कोई बुरा कार्य कर रहे हैं। मैं तो यथार्थ बतला रहा हूँ।''

नारी – ''तुम्हारी बातें समझ में नहीं आ रही हैं।''

गृह स्वामी– ''समझने का प्रयत्न भी न करो। जाओ विश्राम करो। उसे लौट आने दो, लौटने पर सब ज्ञात हो जायेगा।''

कुछ काल के पश्चात् ही द्वार पर दस्तक हुई। चिन्ता ग्रस्त स्त्री-पुरुष सोये नहीं थे। नारी ने उठकर द्वार खोले बालक ने कक्ष में प्रवेश किया।

माँ ने प्रश्न किया– ''कहीं गया था?''

बालक ने उत्तर दिया– ''कहीं नहीं।''

गृहस्वामी को यह सुनकर किंचित रोष आ गया वह बोले– ''आधी रात बीतने पर घर लौटा है और कहता है कि कहीं नहीं गया था।'' पिता को क्रोध भरी वाणी सुनकर बालक सहम गया। फिर बोला ''मैं बुरी जगह

कहाँ जाता हूँ बापू! आज संध्या में जैन देवालय में महाबल नामक मुनिमहाराज आए हैं। मैं मुनिराज से बातें करता रहा।''

गृहस्वामी–'' मुनिराज तो बड़ों से भी बातें नहीं करते, रात्रि में बोलते भी नहीं, क्या झूठ भी बोलने लगा है?''

बालक– ''नहीं बापू!'' मैं क्यों झूठ बोलने लगा? आपने ही तो सिखाया है कि झूठ बोलना पाप है।''

गृहस्वामी–''अच्छा रहने दे, मेरी प्रशंसा मत कर। विस्तार से बता तू क्या करता रहा?

बालक– ''बापू! मैं संध्या के समय जैन मन्दिर के पास अपने मित्रों के साथ खेल रहा था। मन्दिर में से मुनि महाराज निकले और बोले, ''बालको, इधर आओ।'' सारे दोस्त डरकर भाग गए। मैं मुनिराज के पास गया, मैंने उनके चरण छुए। उन्होंने पिच्छिका मेरे सिर पर रखी बड़ी कोमल होती है पिच्छिका। बापू वे फिर मुझसे बातें करते रहे। उन्होंने मेरा नाम पूछा उन्होंने पूछा, क्या णमोकार मंत्र आता है? चौबीस तीर्थंकरों के नाम जानते हो। मैंने सब बता दिये। सूर्यास्त होते ही पद्मासन में बैठ गये। मैं देखता रहा, न वे हिले न डुले। पता नहीं बहुत देर तक क्या करते रहे? फिर उठे तो बोले नहीं। उनके साथ जो लोग आये थे मैं उनसे बातें करता रहा। गीत सुनाता रहा ''अब हम अमर भये, न मरेंगे'' यह गीत उन्हें बहुत पसन्द आया। बापू! तुम्हीं बताओ मैंने क्या कोई अपराध किया है? हाँ बापू! जब मैंने मुनि महाराज के प्रश्नों का सही सही उत्तर दिया तो बहुत प्रसन्न हुए और बोले ''तुम किसके बेटे हो!'' मैंने बता दिया ''मेरे पिता श्री का नाम मल्लप्पा और माँ का नाम श्रीमंती है।'' यह सुनकर बोले ''तुम्हारे माता-पिता बहुत अच्छे हैं, जो तुम्हें धार्मिक संस्कार दे रहे हैं।''

मल्लप्पा अपनी प्रशंसा सुनकर मन ही मन प्रसन्न हुए, पर प्रसन्नता को छिपा कर बोले ''विद्या! तू बहुत बोलने लगा है, जा सो जा।''

प्रकृति अदृश्य किन्तु अद्‌भुत है। उसकी अदृश्य लिपि में लिखी हुई भाषा पढ़ना अत्यंत कठिन कार्य है, किन्तु वह अपनी अदृश्य लिपि में

संकेत देती रहती है भले ही हम उसकी भाषा न समझ सकें। वास्तव में जीवन अकथ कहानी है। कोई नहीं जानता भविष्य में क्या घटित होने वाला है। प्रकृति सूक्ष्म संकेत देती है जिन्हें मात्र समय की आँख ही पढ़ सकती है।

सूर्योदय के समय एक युवक सरिता तट पर बैठा है, किशोर अवस्था को विदा देकर उसने अभी–अभी युवा अवस्था की देहरी पर दस्तक दी है। उसकी स्वर्ण देह पर बाल रश्मियाँ बिखरी हुई हैं। युवक सुन्दर भी है और सुकुमार भी, किन्तु उसके ललाट पर चिन्ता की अनगिनत रेखाएँ बनी हुई हैं। चिन्ता की रेखाएँ उसकी चित्तवृत्ति की सूचक हैं। किसी शांत सरोवर में मात्र एक कंकरी फेंकने से अनन्त तरंगें बनती हैं, फिर शांत हो जाती है। उसी भाँति उस युवक के ललाट पर चिन्ता की रेखाएँ बन–बन कर मिटती जा रही थी। संकल्प–विकल्पों को कोई सेतु नहीं मिल रहा था। वय के इस सन्धि काल में प्रत्येक युवा मस्तिष्क में भविष्य के प्रश्न उठते हैं। प्रश्नों का जो समाधान खोज लेते हैं उन्हें दिशा मिल जाती है और पुरुषार्थ पूर्वक वे अपने गंतव्य की ओर बढ़ने लगते हैं, किन्तु जिन्हें समाधान नहीं मिलता उनकी जीवन नैया, संसार–सागर में भटकती रहती है। भाग्य से किसी को किनारा मिल जाता है अन्यथा समय के प्रवाह में जर्जर होकर नष्ट हो जाती है।

वह युवक सोच रहा था ''जीवन क्या है? संसार क्या है? जन्म के द्वार से आना और मृत्यु के द्वार से लौट जाना मानव मात्र की नियति बन चुका है। दुर्भाग्य से मानव ने इस नियति को स्वीकार कर लिया है। जीवन का उद्देश्य भी कितना संकीर्ण हो गया है। स्नेह, प्रीति और करुणा के अजस्र स्रोत सूखे पड़े हैं। लोक–कल्याण की भावना पर स्वार्थ का कफ़न पड़ा है।''

''परस्पर उपकार कर जीने की कला को जीवन से निष्कासित कर दिया है। भावनात्मक–संस्कृति, मानव–संस्कृति की धरोहर थी, भारतीय संस्कृति की प्राण थी, कहीं दिखाई नहीं पड़ती या तो वह मृत्यु को प्राप्त हो

चुकी है अथवा किसी निर्जन एकांत में अपने दुर्भाग्य पर आँसू बहा रही है।''

''वह सोच नहीं पाता, आजीविका के लिए संघर्ष करना और परिवार का पोषण करते हुए, राग-द्वेष के द्वार पर दस्तक देते हुए, रोते बिलखते सांसों को काल के हाथ सौंप देना। जन्म लेना विवशता है, मृत्यु प्राणी मात्र की नियति है। जीवन का सूत्र वर्तमान के हाथों में सुरक्षित है, इसके पूर्व कि चरण भटकें, उसे अपना गंतव्य निर्धारित कर लेना चाहिए।''

''प्रत्येक के जीवन में प्रकृति संकेत देती है, अनजाने में ऐसी घटनाएँ घटित हो जाती हैं, जो मार्ग प्रशस्त करती हैं। बाल्यकाल में महाबल मुनिराज ने मुझे श्रमण-संस्कृति के मंत्रों को पढ़ने की प्रेरणा दी। उनकी मृदु पिच्छिका के स्पर्श से लगता है जैसे निर्ग्रन्थ श्रमणों की आन्तरिक निर्मलता से परिचय करा दिया। उसका मृदुस्पर्श आज तक नहीं भूल पाया। फिर आए आचार्य देशभूषणजी उन्होंने 'मूँजीबंधन' जनेऊ प्रदान किया। इस संस्कार ने मेरे जीवन में संयम का मार्ग प्रशस्त कर दिया। जीवन का मार्ग बहुत कंकरीला, पथरीला है किन्तु धैर्य और संयम से कंटकाकीर्ण पथ पर चलना सरल हो जाता है। उनकी मृदुवाणी आज भी मेरे कर्ण-कुहरों में गूँज रही है। उन्होंने जो कहानी सुनायी थी, संयम के पथ पर चलने की प्रेरणा दे रही है। सरल से सरल प्रतिज्ञा पालन करने से जीवन में संयम का उदय होता है।''

पुरुरवा भील एक मांसाहारी आखेटक था। हिंसा उनके जीवन का अभिन्न अंग थी। उसके हाथ सदैव ही रक्त से रंगे रहते थे। वह न धर्म की परिभाषा जानता था और न अहिंसा की परिभाषा। नियम संयम का उसने नाम भी नहीं सुना था। प्रकृति के सुरम्य वातावरण में हिंसक पशुओं के मध्य रहता, पशुओं का आखेट करता, मांस खाकर अपनी क्षुधा पूर्ति करता, मात्र एक कोपीन से तन ढकता। अपनी जीवन संगिनी कालिका के साथ जीवन-यात्रा कर रहा था। दैवयोग से एक दिगम्बर श्रमण का आगमन उस बियावान जंगल में हुआ। पुरुरवा शिकार समझकर उनका शर से संधान

करना चाहता था किन्तु कालिका ने उसके क्रोध की चिन्ता न करते हुए कहा–स्वामी! "शिकार में ही जीवन बीत रहा है, किन्तु अभी तक आप पशुओं के पैरों की ध्वनि और मानव पदचापों में अन्तर नहीं कर पाते।" ध्यान से सुनो, "कैसी नियमित, संयत तालबद्ध पदचापें हैं क्या पशु भी ऐसे चलते हैं।" कुछ क्षण पश्चात् दोनों ने देखा एक दिगम्बर मानव आकृति प्रकट हुई। एक हाथ में पिच्छिका और दूसरे हाथ में कमण्डलु के अतिरिक्त उनके पास कुछ नहीं था। पुरुरवा और कालिका दिगम्बर श्रमणों के व्यक्तित्व से अपरिचित थे किन्तु साधना और संयम से नहाई कृशकाय देह ने दोनों को बहुत प्रभावित किया। पुरुरवा श्रमणश्री के चरणों में गिर पड़ा और बोला–देवता! क्षमा करें, मुझसे आपकी हत्या का अपराध होते–होते बच गया। मैं नहीं जानता आप कौन हैं? इस नग्नवेश में विचरण करने का क्या उद्देश्य है? किन्तु इस सघनतम दुर्गम–विजन में या तो हम जैसे हिंसक पशुओं के साथ रहने के अभ्यस्त भील रह सकते हैं या कोई अलौकिक पुरुष। बिना हथियारों से सज्जित कोई देवता ही इस प्रदेश में विचरण कर सकता है। मैं पुरुरवा भील हूँ और यह मेरी पत्नि कालिका। हे दिव्य पुरुष! मुझे सुख का मार्ग बताइये।

दिव्य पुरुष ने अभय मुद्रा में वरदहस्त उठाया और "कहा पुरुरवा! निरपराध निरीह पशुओं की हिंसा छोड़ दे।"

पुरुरवा–"देवता! यह आप क्या कह रहे है? आखेट मेरी आजीविका है। मेरी क्षुधा निवारण का साधन है। मैं निरक्षर हूँ दूर तक कोई बस्ती नहीं है। यदि हिंसा छोड़ दूँगा तो मैं और मेरा परिवार क्षुधा से मर जायेगा। मुझे अन्य कोई मार्ग बताइये जो कल्याणकारी हो।"

दिव्यपुरुष ने कहा– "सम्पूर्ण विश्व में सुख, शांति और कल्याण का मार्ग अहिंसा के अतिरिक्त कोई नहीं, शेष मार्ग अहिंसा की शाखाएँ हैं, पगडण्डियाँ हैं। यदि अपना कल्याण चाहता है तो अहिंसा के मार्ग का अनुकरण कर। सुन देख ये सुन्दर हिरण स्वच्छन्द होकर विचरण कर रहे हैं, इनने तेरा क्या बिगाड़ा है, कौन–सी हानि पहुँचाई है?"

पुरुरवा– देवता।''इन पशुओं से मेरी कोई शत्रुता नहीं है।''

दिव्य पुरुष– ''पर तू इनकी हत्या तो करता है।''

पुरुरवा– ''यह मेरी विवशता है देव।''

सहसा एक कौआ उड़ता हुआ दिखाई दिया। श्रमणश्री ने पूछा– ''क्या कभी कौए का मांस खाया?''

पुरुरवा–''नहीं, देव! तो जीवनपर्यन्त के लिए काक मांस छोड़ दे।''

कालिका ने कहा– ''देवता! मेरे पति कभी कौए का मांस खाते ही नहीं, उसे त्यागने में क्या औचित्य है?''

दिव्य पुरुष ने कहा–''भद्रे। कुछ प्रश्न ऐसे होते हैं जिनका उत्तर वर्तमान की अपेक्षा भविष्य देता है। इस प्रश्न का उत्तर मैं क्या दूँ? प्रतीक्षा करो, भविष्य में उत्तर मिल जावेगा। मैंने तुम्हारे पति को अहिंसा के प्रवेश द्वार तक पहुँचा दिया है, आगे अपना गंतव्य वह स्वयं खोज लेगा।''

पुरुरवा ने कहा– देवता।''मैं प्रतिज्ञा करता हूँ जीवन पर्यन्त काक मांस नहीं खाऊँगा।''

दिव्य पुरुष ने अपना दाँया हाथ अभय मुद्रा में उठाया और कहा– ''भव्य पुरुष तेरा कल्याण हो।

इतना कहकर वह आकाश मार्ग से गमन करने लगे। पुरुरवा और कालिका ने उस कृशकाय श्यामवर्णी शरीर को आकाश में गमन करते देखा, उन्हें लगा जैसे उस दिव्य पुरुष की देह के चारों ओर आभा मंडल बना हुआ है और उस आभा मंडल के प्रकाश की किरणें उनकी दृष्टि में प्रवेश करती चली जा रही हैं। दोनों अपलक निस्सीम गगन में विहार करते उस दिव्य पुरुष को अपलक विस्मय से देखते रहे, जब तक वह दृष्टि से ओझल नहीं हो गये। पुरुरवा और कालिका कौतूहल भरी दृष्टि से एक दूसरे को देखते रहे, उन्हें लगा जैसे उन्होंने अभी-अभी कोई अद्‌भुत स्वप्न देखा हो।

पुरुरवा ने कहा–''कौन थे यह दिव्य-पुरुष? क्यों आये थे इस

निर्जन विजन में? क्या पुरुरवा को केवल काक मांस न खाने की प्रतिज्ञा दिलाने आए थे? क्या वे मेरे भविष्य से परिचित थे? मैं अपनी देह में विचित्र प्रकार की सिहरन का अनुभव कर रहा हूँ। कालिके उत्तर दो।''

कालिका– ''स्वामी। मैं स्वयं भी कुछ नहीं जानती। मुझे तो सभी कुछ एक स्वप्न जैसा लग रहा है। किन्तु दिव्य-पुरुष का आगमन निष्प्रयोजन नहीं था। आओ उस आकाश पथ को प्रणाम करें और घर लौट चलें। इस प्रश्न का उत्तर दिव्य पुरुष ने भी कब दिया था? मुझे स्मरण है उन्होंने कहा था, भविष्य स्वयं इस प्रश्न का उत्तर देगा। बिना आहट और पदचाप के समय बीतता गया, एक दिन आया, पुरुरवा रोग ग्रस्त हो गया, सभी उपचार रोग दूर करने में असमर्थ रहे। भील अपने मुखिया की जीवन रक्षा के लिए सुदूर से एक प्रसिद्ध वैद्यराज को लाए। परीक्षण करने के बाद वैद्यराज ने कहा– ''रोग मुक्त होना कठिन है पर असम्भव नहीं। मैं औषधि देता हूँ कौए के मांस में दिन में तीन बार दें, एक सप्ताह में पुरुरवा रोग मुक्त हो जायेगा।'' पुरुरवा ने सुना तो उसके मस्तिष्क में एक साथ सहस्त्रों कौओं की आवाज सुनाई पड़ने लगी। शक्ति-हीन जर्जर पुरुरवा की देह में न जाने कहाँ से शक्ति आ गई वह बोला'' कौए का मांस खाना तो बड़ी बात है, छुऊँगा भी नहीं।'' वैद्यराज चले गये। कालिका ने समझाया स्वामी!'' काक मांस में दवा ले लो। जीवन की रक्षा करना ही परम धर्म है।'' पुरुरवा ने कहा –''नहीं कालिके। उस दिव्य पुरुष ने क्या कहा था? प्रतिज्ञा का पालन करने का क्या फल होता है? इसका उत्तर समय देगा। क्या मुझे पता था कि जीवन में कौए के मांस खाने का भी प्रसंग कभी आयेगा? कालिके वह दिव्य-पुरुष मेरे जीवन की किताब का प्रत्येक पृष्ठ पढ़ चुका था। वह प्रतिज्ञा पालन करने का परिणाम भी जानता था। मैं भी प्रतिज्ञा पालन के अन्तिम परिणाम को जानना चाहता हूँ। रो मत मेरी मृत्यु निश्चित है। औषधि सेवन से मृत्यु कुछ दिन टल भी गई, तो भी मृत्यु का आना निश्चित है, मेरा जाना निश्चित है। मरण देह का धर्म है, देह को अपना धर्म निभाने दें और मुझे अपनी प्रतिज्ञा।''

कोई न जान सका, न पहचान सका, दबे पाँव अदृश्य मृत्यु आई और पुरुरवा को ले गई, शेष रह गई पुरुरवा की देह और स्नेही आत्मीय जनों के चीखने की आवाजें।

मृत्यु के पश्चात् ही पुरुरवा की आँख खुली। रत्नजटित दुर्लभ बहुमूल्य सुखद शयन शय्या, भव्य और दिव्य प्रासाद रूप की अछूत कला कृतियों सी देवांगनाएँ, दासियाँ गुंजरित मृदुल-कर्णप्रिय संगीत कक्ष में व्याप्त मादक सुरभि और अंकशायनी बनने अप्रतिम रूपसी देवागनाएँ। उसने सोचा ''कहीं स्वप्न तो नहीं देख रहा।'' उसी समय एक सुन्दरी ने कहा- ''स्वामी! देव लोक में आपका स्वागत है।'' पुरुरवा को उस दिव्य-पुरुष से किए गए प्रश्न का उत्तर मिल गया। प्रतिज्ञा पालन का महत्त्व अनुपम होता है।

युवक के मस्तिष्क में प्रवचन में सुनी घटना चलचित्र की भाँति घूम गई। उसे लगा जैसे उसके नयनों में युग के महान् संत आचार्य देशभूषण जी परम सर्वज्ञ वर्द्धमान, महावीर की ज्ञानपीठ पर विराजमान हैं और प्रतिज्ञा पालन का महत्त्व समझा रहे हैं। उसने मन ही मन उस दिव्य विभूति को प्रणाम किया।

उसका चिन्तन और भी मुखर होता चला गया। एक दृश्य मिटता तो उसके नयनों में दूसरा दृश्य उभर आता। उसके चिन्तन की समाधि टूट ही नहीं रही थी। उसने देखा श्रमण संस्कृति की अविच्छिन्न निर्ग्रन्थ श्रमण परम्परा जिसमें अल्पकाल के लिए छिन्नता आ गई थी। उस छिन्न परम्परा को कोई जोड़ने का साहस नहीं जुटा पा रहा था। उसे जोड़ने का कार्य वात्सल्य मूर्ति ज्ञान रत्नाकर आचार्य शांतिसागरजी ने किया वह उसकी दृष्टि में समाविष्ट हो गए और उससे कह रहे हों वत्स! मनुष्य प्रकृति की श्रेष्ठ कृति है, पूर्व अर्जित कर्मों का अमृत फल है, वह प्रज्ञा का कल्पवृक्ष है। मनुष्य पाप-पुण्य को अर्जित करने और कर्मों की निर्जरा करने के लिए स्वतंत्र है। वह चाहे तो अपने दुष्कृत्यों से नरक के दुखद, वीभत्स प्रदेश में प्रवेश कर सकता है। पुण्य कर्मों को संचित कर चरम भौतिक-सुखों को

उपलब्ध कर सकता है। पाप–पुण्य की ग्रन्थियाँ तोड़ निर्ग्रन्थ बन मुक्ति को वरण कर सकता है। वह एक ऐसे चौराहे पर खड़ा है, जहाँ से मार्ग हर दिशा की ओर मुड़ता है। उसे लगा जैसे आचार्य शांतिसागरजी उसे ही सम्बोधन कर रहे हों और कह रहे हों–सावधान तू भी वय–सन्धि के चौराहे पर खड़ा है, बोल किस दिशा में जाना चाहता है? प्रखर धूप से उस की ताम्रवर्णी देह स्वर्णिम हो उठी। उसका सारा शरीर स्वेद से नहा गया। वह चिन्तन के लोक में विचरण कर रहा था।

सहसा उसे किसी ने पुकारा 'विद्या'। युवक चौंक उठा। देखा सामने उसका प्रिय मित्र मारुति खड़ा था।

मारुति– "यहाँ निर्जन सरिता तट पर बैठा क्या कर रहा है? सारी देह पसीने से नहायी हुई है। घर जाने पर ज्ञात हुआ कि तू सूर्योदय से पूर्व ही घर से निकल चुका है। मैं तेरी आदत से परिचित हूँ इसलिए खोज लिया अन्यथा कोई भी कल्पना नहीं कर सकता कि तू सरिता तट पर अकेला बैठा होगा। बता क्या बात है? किस बात की चिन्ता है? विद्या मारुती की बात सुनकर हँस दिया और बोला "चिन्ता से मैंने रिश्ता ही नहीं पाला। मुझे क्यों होने लगी चिन्ता?"

मारुति–"अच्छा, मान लिया चिन्ता से तेरा कोई रिश्ता नहीं, पर एकांत में बैठ क्या सोच रहा था?"

विद्या–"मित्र! अपने भविष्य के सन्दर्भ में स्वयं से बातचीत कर रहा था। क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ?"

मारुति–मित्र! वर्तमान में अपना अध्ययन काल है। वर्तमान में न कहीं जाने की आवश्यकता है और न व्यर्थ विचार करने की। अध्ययन काल समाप्त होने पर विचार करना।

विद्या–"मित्र! जिसे तुम अध्ययन कहते हो, उसका जीवन के निर्माण से कोई सम्बन्ध नहीं है। वर्तमान शिक्षा तो दो समय भोजन जुटाने का आश्वासन तक नहीं देती।"

मारुति–"मित्र! शिक्षा प्रणाली को तो हम बदल नहीं सकते।

इसलिए इस पर सोचना और तर्क करना व्यर्थ है। तुम अपना मंतव्य स्पष्ट कहो तो विचार करें।''

विद्या–''लौकिक जीवन और लौकिक शिक्षा में मेरी रुचि नहीं है। कोई अज्ञात प्रेरणा आत्मा, परमात्मा का रहस्य अनावृत करने और आत्मसाधना की दिशा में जाने की प्रेरणा दे रही है। तीर्थंकरों के पद-चिह्न मुझे आमंत्रण दे रहे हैं और कह रहे हैं मेरे मार्ग का अनुकरण कर। मैं सोच नहीं पाता क्या करूँ? घर छोड़ कर कहीं दूर चला जाऊँ। मैं अपना मार्ग और गन्तव्य निश्चित नहीं कर पा रहा हूँ।''

मारुति–''मैं तेरी समस्या के बारे में कुछ नहीं समझ पा रहा हूँ। मैं तो इतना ही कह सकता हूँ समय से पूर्व और भाग्य से अधिक कुछ नहीं मिलता। प्रतीक्षा करो, समय तुम्हारा मार्ग स्वयं प्रशस्त करेगा। चलो घर लौट चलो।''

❑❑❑

मल्लप्पा और माँ श्रीमंती दोनों सावधानी पूर्वक विद्या की दिनचर्या देख रहे थे। उन्हें लगा वह शांत और गंभीर होता चला जा रहा है। बोलता बहुत कम है। पर उसकी सधी हुई दिनचर्या के कारण उसके विचारों का, भावनाओं का संकेत नहीं मिल रहा था। उससे कुछ पूछते तो हँसकर टाल जाता है। कहता है– मुझे आपकी और अपने परिवार की प्रतिष्ठा का ध्यान है, मैं ऐसा कोई कार्य नहीं करता, न करूँगा जिससे प्रतिष्ठा को आँच आए। आप ही बताइये, मैं परिवार का कौन-सा काम नहीं करता? आप किसी बात की चिन्ता न करें, किन्तु माता-पिता को सन्तोष नहीं मिल रहा था।

सदलगा (कर्नाटक) के समीपवर्ती बोरगाँव में दिगम्बर श्रमण नेमिसागर जी पधारे। वृद्धावस्था और जर्जर देह उनकी जीवन यात्रा के अन्त का संकेत दे रही थी। जीवनरूपी दीपक से आयुरूपी स्नेह कब समाप्त हो जाये? चलती हुई सांसें कब रुक जाएँ ? कोई नहीं जानता। श्रमण नेमिसागरजी ने मृत्यु की निःशब्द पदचापों को सुना और अनुभव

किया कि ''मृत्यु देह के द्वार पर दस्तक देने वाली है'' तो उन्होंने मृत्यु के आगमन की प्रतीक्षा नहीं की और कहा–''मृत्यु! आ मैं तत्पर हूँ, तू मुझे छू भी नहीं सकती। मैं अजर अमर अविनाशी आत्म तत्त्व हूँ। तू देहरूपी पिंजरे के द्वार खोलेगी, मैं अदृश्य हो जाऊँगा। पुष्प से गंध, पिंजरे से पंछी जैसे उड़ जाता है, उड़ जाऊँगा अदृश्य हो जाऊँगा। मैं देह नहीं आत्मा हूँ और उन्होंने मृत्यु के आगमन के पूर्व ही निराकुल भाव से देह के पोषक तत्त्व अन्न-जल तक का परित्याग कर दिया।''मृत्यु चकित थी इस संन्यासी के साहस को देखकर। मृत्यु जिसकी आहट सुनकर प्राणी मात्र काँप जाता है उन क्षणों में यह कितना निर्भय और निश्चिन्त है।''

मृत्यु आलिंगन में मुझको बिठाले,
परिवर्तन देख ले ध्रुवता अमर है।
प्रज्ञा दर्पण में सब कुछ दिख रहा है,
मेरे सर्वज्ञ की मुझ पर नजर है॥

मृत्यु निश्चित है तब रोकर मरने की अपेक्षा जीवन की चादर काल के हाथों में सौंप देना ही विवेकपूर्ण है, समाधि मरण है। मृत्यु को गले लगा यह मनुष्य रहस्यमयी मृत्यु के रहस्य को एक दिन निश्चित अनावृत कर लेगा।

श्रमण श्री नेमिसागरजी के समाधिपूर्वक देह विसर्जित करने की सूचना बिना प्रचार-प्रसार के सम्पूर्ण कर्नाटक प्रांत में फैल गई। युवा विद्याधर ने भी सुना और वह अविलम्ब बोरगाँव पहुँचा। जीवन में प्रथम बार किसी श्रमण का समाधिमरण देख रहा था। समाधिस्थ श्रमण निर्भय और निराकुल थे। दर्शनार्थियों की कतारबद्ध भीड़ आती और दर्शन कर लौट जाती। समाधिमरण के सन्दर्भ में उसने विभिन्न प्रतिक्रियाएँ सुनी। जो समाधिमरण के महत्त्व और समाधिमरण की साधना की पृष्ठभूमि से अपरिचित थे वह कह रहे थे–''मृत्यु को स्वयं आमंत्रित करना, प्रकृति प्रदत्त नैसर्गिक उपहार के प्रति अन्याय है, किन्तु जिन्होंने श्रमण संस्कृति का इतिहास पढ़ा था और जो सल्लेखना के महत्त्व से परिचित थे, वह कह रहे थे–''जन्म के

साथ ही मरण लगा है। मरण; जीवन का अन्तिम सत्य है। निर्भयता पूर्वक मरण ही मरण को सार्थकता प्रदान करता है। समाधि स्थल पर श्रमणश्री के चरणों में श्रीफलों का ढेर लगा था। श्रमणश्री नियमित प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और सामायिक करते। मृत्यु आई, श्रमणश्री ने निराकुल भाव से सिद्धम् नमः सिद्धम् नमः, कहते हुए प्राण पखेरु को उड़ जाने दिया। प्राण पखेरु उड़ गये। आत्मा अज्ञात में नये नीड़ की खोज में चली गई। श्रमणश्री की निष्प्राण देह रह गयी। विशाल जनसमूह उस क्षण उपस्थित था, किन्तु न कोई पहचान सका न, कोई देख सका। मृत्यु कब आई और नश्वर सांसों को लेकर चली गयी। मृत्यु का रहस्य समाधि में खुलता है किन्तु आज तक अभिव्यक्त नहीं हो सका। मरण की अनुभूति करने वाला, मरण के क्षण ही अदृश्य की यात्रा पर चला जाता है। भारतीय चिन्तक सदैव ही मरण के रहस्य को खोजने में लगे हैं, उनका निष्कर्ष है मरण का कोई अस्तित्व नहीं है। आत्मा अजन्मी है। जिसका जन्म ही नहीं हुआ, उसका मरण कैसे सम्भव हो सकता है! मरण देह का व्यापार है।

विद्या ने जीवन का यह अन्तिम दृश्य बहुत समीप से देखा। सल्लेखना प्रारंभ होने से अन्त तक वह श्रमणश्री की सेवा में रहा, उसकी आँखों से आँसुओं की अविरल धारा फूट पड़ी। उसने चीख चीख कर रोना चाहा पर वह चाहते हुए भी रो न सका। वह चकित और दुखी मन से मरण-धर्मी देह की अन्तिम यात्रा देखता रहा। चन्दन और श्रीफलों से ढकी श्रमणश्री की देह प्रज्ज्वलित अग्नि से अशेष हो गई। वातावरण में व्याप्त थी श्रमणश्री की साधना की कीर्ति, संवेदना के आँसू, दर्शनार्थियों में इस संसार की नश्वरता की चर्चा। सल्लेखना द्वारा मरण के दृश्य को देखकर कुछ मरण भय से निर्भय हुए और कुछ मरण भय से भयभीत।

मल्लप्पा परिवार में शोक व्याप्त है। विद्याधर एक सप्ताह से घर नहीं लौटा। किसी अज्ञात की यात्रा पर चला गया अथवा कहीं दुर्घटना ग्रस्त हो गया। कोई भी सन्देश नहीं छोड़ गया। माँ श्रीमंती जी के आँसू रोके नहीं रुकते। बहन स्वर्णा और शांता भी दुखी हैं। अल्पवय लघुभ्राता

अनन्तनाथ और शांतिनाथ पूछते ''भैया कब घर लौटेंगे?'' कोई उत्तर नहीं देता। सम्पूर्ण मल्लप्पा परिवार व्याकुल था, अनिष्ट की आशंका से उनका हृदय काँप जाता था।

जयपुर के निकट चूलगिरि क्षेत्र पर आचार्य देशभूषणजी ससंघ विराजमान हैं। आहार से लौटने के पश्चात् अपने संघ सहित बैठे हैं बहुत अधिक भीड़ नहीं है। सहसा एक आकर्षक-युवक ने कक्ष में प्रवेश किया, आचार्यश्री के चरणों में नमन-वन्दन कर कहा ''आचार्यश्री! मैं आपके सान्निध्य में रहकर आत्म-साधना करना चाहता हूँ।'' आचार्यश्री ने कहा– सुदूर से आये हो तुम्हारे उच्चारण से लगता है, कर्नाटक प्रांत के निवासी हो, लगता है हिन्दी तुम्हारी मातृभाषा नहीं है। संघ में सम्मिलित करने के नियम होते हैं। जाओ प्रथम दैनिक क्रियाओं से निवृत्ति पा लो, विश्राम करो पश्चात् विचार करेंगे। विद्याधर–''आचार्यश्री मैं सुदूर कनार्टक प्रांत से आपकी कीर्ति सुनकर आया हूँ।''

आचार्यश्री– ''क्या नाम है तुम्हारा, माता-पिता का क्या नाम है? समीपवर्ती ब्रह्मचारी की ओर संकेत करते हुए बोले इनका नाम पता लिख लो।''

विद्याधर को आचार्य देशभूषणजी के संघ में रहने की अनुमति मिल गई, किन्तु आचार्य श्री देशभूषणजी कोई व्रत देने के लिए तैयार नहीं थे। विद्याधर स्थायी गृह-त्याग की भावना से आचार्य संघ में आये थे, व्रत न देने का स्पष्ट अर्थ था कि सम्प्रति संघ में सम्मिलित करना नहीं चाहते।

विद्याधर ने आचार्यश्री से आजीवन ब्रह्मचर्य का व्रत प्रदान करने की प्रार्थना की। आचार्यश्री ने अत्यन्त संक्षेप में उत्तर दिया–अभी नहीं और मौन हो गये। विद्याधर ने सोचा, आचार्यश्री ने आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत नहीं दिया तो माता-पिता आ जायेंगे और घर लौटने का आग्रह करेंगे। आचार्यश्री उनकी आज्ञा के बिना व्रत नहीं देंगे। कोई उपाय न देखकर अनशन प्रारम्भ कर दिया। दो दिन तक कक्ष से बाहर ही नहीं निकले। आचार्यश्री चिन्तित थे, निर्णय नहीं ले पा रहे थे, बिना इस युवक के माता-पिता की अनुमति के

आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत देना उचित होगा या नहीं। युवक स्वस्थ, सुन्दर और संकल्प शक्ति का धनी है, किन्तु क्या यह व्रत की रक्षा कर सकेगा? आचार्यश्री यह सोच ही रहे थे उसी समय एक चौबीस वर्षीय युवक ने कक्ष में प्रवेश किया चरणस्पर्श किए और कहा आचार्यश्री! मेरा नाम महावीर है। मैं विद्याधर का ज्येष्ठ भ्राता हूँ। आपका पत्र पाकर सदलगा से आया हूँ।

आचार्यश्री ने कहा–''अच्छा हुआ तुम आ गये। जाओ अपने भाई को समझाओ, दो–तीन दिन से अनशन कर रहा है और अपना निर्णय बताओ।''

एक कक्ष में विद्याधर अकम्प पद्मासन में बैठा है। शरीर की कांति क्षीण पड़ गई है। चिन्ता की रेखाएँ उसके चेहरे पर सहज ही देखी जा सकती हैं। उसके ज्येष्ठ भ्राता महावीर ने कक्ष में प्रवेश किया और भाव विह्वल होकर कहा–''विद्या भैया! विद्या की तन्द्रा टूटी उसने देखा सामने बड़े भैया महावीर खड़े हैं।'' विद्याधर–''कब आये? भैया!''

महावीर–''अभी आ रहा हूँ। विद्याधर तुम्हें ये क्या हो गया है? माता–पिता, भाई–बहिन सभी से नाता तोड़कर चले आये जैसे इनसे तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं हो। लौकिक जीवन के सम्बन्ध निरर्थक नहीं होते। लौकिक सम्बन्ध स्नेह, प्रीति और करुणा के लघु तन्तुओं से जुड़े हुए हैं। इनके मध्य एक भावात्मक अनुभूति होती है। तुम्हें क्या पता? माता–पिता, भाई–बहन तुम्हारे गृह त्याग से कितने दुखी हैं? चलो घर लौट चलें। वहीं साधना करना, उसके पश्चात् जिस संघ में जाना चाहो चले जाना।''

विद्याधर–''नहीं भैया! बहुत लम्बे समय तक संकल्प–विकल्पों के बीहड़ में भटकने के बाद घर छोड़ने का निर्णय ले सका हूँ। पारलौकिक अतीन्द्रिय–सुखों को पाने के लिए सांसारिक–सम्बन्धों को तोड़ना ही पड़ता है। भौतिक–सुखों की दीवार गिराना ही पड़ती है। जन्म सत्य है। मरण सत्य है। जन्म–मरण के पश्चात् पुनर्जन्म भी सत्य है। कितनी बार जन्म ले चुका हूँ मृत्यु को वरण कर चुका हूँ, कल्पनातीत है। इस जन्म–

मरण की अनन्त यात्रा के मध्य कितने सम्बन्ध जुड़े और टूटते चले गये हैं? कोई गिनती नहीं है। जन्म सम्बन्धों को जोड़ता है, मृत्यु सम्बन्धों को तोड़ती है। कितने अस्थिर हैं ये सम्बन्ध! स्नेह-प्रीति के सम्बन्धों को काल तोड़े इसके पूर्व ही मैं इन्हें तोड़ने का निर्णय ले चुका हूँ।''

''मैं प्रव्रज्या की डगर पर चलने के लिए संकल्पित हूँ। आशीर्वाद देकर मेरा मार्ग प्रशस्त कीजिए। मैं कोई ऐसा कार्य करने भी नहीं जा रहा जिससे परिवार की प्रतिष्ठा कलंकित हो।''

महावीर—''भैया! स्नेह और प्रीति के धागे इतनी सरलता से नहीं तोड़े जा सकते। हम जिस मानव समाज में रहते हैं, हम जिस सभ्यता और संस्कृति में बंधे हैं, उनमें इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है, जिस क्षण ये टूट जायेंगे वह क्षण संसार के लिए दुर्भाग्यशाली क्षण होगा। ये रिश्ते, ये बन्धन सत्य न हो तो मैं यहाँ आता ही क्यों? माता-पिता स्मृति में रोते क्यों? उनकी भूख-प्यास किसने छीन ली? जन्म भी एक प्रकार का ऋण है भैया! माता-पिता की सेवा कर उसे चुकाना चाहिए। तुम्हारा दायित्व है लौट चलो।''

विद्याधर—''संसार सत्य भी है और मिथ्या भी। जिन्हें भौतिक सुख और ऐश्वर्य की कामना है, उन्हें लौकिक-आदर्शों का पालन करना चाहिए। सभ्यता और संस्कृति के संवर्धन के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए किन्तु जो मुक्ति के मार्ग पर चलना चाहते हैं, उनका पथ निसंग होता है, एकाकी होता है। जन्म-मृत्यु की यात्रा की भाँति यह भी एकल यात्रा है। भैया! मेरे मार्ग में मोह की दीवार मत खड़ी करो। तुम्हें क्या पता कितनी कठिनाई से तोड़ सका हूँ। आये हो तो आशीर्वाद दो, मुक्ति के पथ पर निर्भय होकर चल सकूँ। इतना कहकर मौन हो गये।'' महावीर ने समझाने का अथक प्रयास किया, विद्या ने कोई उत्तर नहीं दिया। वह अकम्प मूर्ति के समान अविचल हो गए जैसे उन्हें कुछ सुनाई ही नहीं पड़ रहा हो।

महावीर आचार्य श्री देशभूषणजी के पास गये और बोले ''गुरुदेव! विद्याधर आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार करने के अतिरिक्त अन्य किसी

विकल्प के लिए तैयार नहीं है।'' आचार्यश्री ने कहा– ''यदि तुम अपने भाई को घर ले जाना चाहते हो तो ले जाओ, समझा सकते हो तो समझाओ अन्यथा मैं उसके कल्याणकारी मार्ग में अधिक समय तक बाधा नहीं बन सकूँगा।''

''मैं निर्ग्रन्थ दिगम्बर आचार्य हूँ जिस पथ को मैं श्रेष्ठ समझता हूँ जिस पथ पर मैं स्वयं गतिशील हूँ उसे चलने से मैं कैसे रोक सकता हूँ? वह वयस्क है और निर्णय लेने में सक्षम है। दीक्षा पूर्व दीक्षार्थी के माता-पिता की अनुमति लेने का विधान है, इसलिए तुम्हारे माता-पिता को सन्देश भेजा था। तत्काल अपना निर्णय बताओ। उसके निश्चय से उसकी संकल्प शक्ति का बोध होता है। संयम को स्वीकार करने के लिए हठवाद का मार्ग शोभनीय नहीं है, यह आचार्य का विवेक है, वह किसे दीक्षा दे, किसे न दे? किन्तु तुम्हारे भाई की कुछ विवशताएँ होंगी, शंका और भय होगा जिसे वह अभिव्यक्त नहीं कर पा रहा है। पर मैं जानता हूँ –व्रती न होने पर उसे घर लौटना होगा, इसलिए उसने यह अपवाद का मार्ग अपनाया है। अन्यथा इसमें क्या अन्तर पड़ता है कि व्रत वह आज स्वीकार करे अथवा कुछ काल पश्चात्। संघ में कोई उपवास के अतिरिक्त भूखा रहे यह संघ के नियमों के प्रतिकूल है। तुम अपना निर्णय बताओ। महावीर ने अत्यन्त विनम्र शब्दों में कहा–''आचार्यश्री! इस संदर्भ में मैं निर्णय लेने में स्वयं को असमर्थ पा रहा हूँ। परिस्थिति अनुसार आप स्वयं निर्णय करें। विद्याधर को आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत दिये जाने में मुझे कोई आपत्ति नहीं है।''

आचार्य श्री देशभूषणजी ने श्रमणों, संघस्थ साधकों के समक्ष साधारण समारोह में विद्याधर को आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत की दीक्षा प्रदान की।

विद्याधर का मुख कमल खिल उठा और उसने अपने आपसे कहा– ''**अब मैं अपना मार्ग स्वयं खोज लूँगा।**''

आचार्य श्री देशभूषणजी की कीर्ति सम्पूर्ण भारतवर्ष में व्याप्त थी। प्रत्येक प्रांत से दर्शनार्थी उनके दर्शनों को आते थे। विद्याधर को हिन्दी

भाषा का विशेष ज्ञान नहीं था, कामचलाऊ हिन्दी उन्हें आती थी किन्तु ज्ञान के प्रति उनकी असीम लालसा थी। आचार्य देशभूषण जी का विशाल संघ था। उसमें मुनि, आर्यिकाएँ, क्षुल्लक-क्षुल्लिकाएँ एवं अनेक ब्रह्मचारी थे। विद्याधर को संघ में सेवा कार्य सौंपा गया। सेवा कार्य से जो भी शेष समय मिलता उस समय वह विद्याध्ययन करता। विद्याधर की चर्या सूर्योदय से प्रारम्भ होती थी। आवश्यक कार्यों से निवृत्त होकर सामायिक करते। श्रमणों के साधना स्थल की सफाई करते। श्रमणों के कमण्डलुओं में प्रासुक जल भरते। वह आचार्य संघ में आकर संतुष्ट था किन्तु ज्ञान के प्रति उसका जो आकर्षण था, ज्ञानार्जन की असीम लालसा थी, वह अतृप्त ही बनी रही। श्रमण श्रमणियाँ संघ के अन्य सदस्य अपना-अपना स्वाध्याय करते। नवदीक्षित साधकों को अध्यापन की कोई व्यवस्था नहीं थी किन्तु विद्याधर समर्पित भाव से संघ की सेवा कर रहे थे।

चूलगिरि जयपुर शहर से दूर एक पहाड़ी पर स्थित है। एक रात्रि उन्होंने आचार्यश्री का पीड़ा युक्त स्वर सुना। तत्काल विद्याधर गुरु सेवा में पहुँचे, ज्ञात हुआ कि गुरुदेव के पांव में बिच्छू ने डंक मार दिया है। असहनीय वेदना थी। पहाड़ी पर न कोई औषधि उपलब्ध थी और न कोई श्रावक। ज्ञात हुआ कि पहाड़ी के तल में निर्मित देवालय में औषधि उपलब्ध हो सकती है। पर नीरव निशा में जाकर औषधि लाये कौन? विद्याधर दौड़ते हुए गये और तीव्र गति से औषधि लेकर आये। जाते समय रास्ते में भयंकर विषधर मिला पर वह रास्ता काट कर निकल गये।

प्रातः होते-होते पीड़ा दूर हो गई। इस घटना से विद्याधर ने संघ एवं गुरुदेव के हृदय में महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया।

❑ ❑ ❑

आदि सिद्ध गोम्मटेश्वर बाहुबली की श्रवणबेलगोल कर्नाटक में स्थित विश्व प्रसिद्ध प्रतिमा का वर्ष १९६७ में महामस्तकाभिषेक होना था। आचार्य श्री देशभूषण जी ने ससंघ महामस्तकाभिषेक में सम्मिलित होने का निर्णय लिया। श्रवणबेलगोल पहुँचने हेतु संघ ने विहार किया। विशाल

संघ के साथ कुछ श्रद्धालु श्रावक भी थे। संघ श्रवणबेलगोल की ओर यात्री दल सहित निर्विघ्न बढ़ता चला जा रहा था। निर्जन वन, ग्राम-नगरों को देखने का विद्याधर को सुयोग प्राप्त हुआ। विभिन्न प्रांतों की भाषा, रहन-सहन, रीति-रिवाजों का परिचय प्राप्त हुआ। संघ में उसका काम सेवा करना था। आचार्य देशभूषणजी और कुछ संघस्थ श्रमण पदयात्रा करने में असमर्थ थे, इसलिए कुछ डोलियाँ साथ चल रही थीं। विद्याधर भी डोली उठाता, डोली उठाते-उठाते कहार पहाड़ पर चढ़ते समय थकान का अनुभव करते और विशेष प्रकार की ध्वनि निकालते, विद्या भी उनके स्वर में स्वर मिलाता। जयपुर से श्रवणबेलगोल की सुदूर पद-यात्रा में प्रकृति के सौंदर्य को उसने बहुत समीप से देखा। निर्जन वन में सूर्योदय और सूर्यास्त का समय उसे सबसे सुन्दर लगता। सूर्योदय के साथ पथ ज्योंहि स्पष्ट दिखने लगता, विहार प्रारम्भ हो जाता और सूर्यास्त होते ही यात्रा पर विराम लग जाता। यात्रा में विद्याधर का चिन्तन मुखर हो उठा।

सूर्योदय के साथ ही सूर्य की सुहागिन बेटियाँ रश्मियाँ, वसुधा के प्रांगण में अठखेलियाँ करने आतीं और संध्या में लौट जातीं। सूर्य के उदय और अस्त के क्रम में उसे जीवन का रहस्य उद्घाटित होता दिखाई दे रहा था। सूर्योदय जन्म का प्रतीक है और संध्या उसके अवसान का सूचक है। सूर्योदय का दृश्य उसे जितना सुन्दर लगता, सूर्यास्त का समय भी उसे उतना ही आकर्षक लगता।

नीड़ों में लौटते हुए पक्षियों का कलरव-गान, नीड़ों में प्रतीक्षारत बाल पक्षियों की चहचहाहट सुनकर उसके भावुक हृदय में कविता जन्म लेने व्याकुल हो उठती। वह प्रकृति और मानव जीवन के विभिन्न पहलुओं पर तुलनात्मक रूप से चिन्तन करता, उसका हृदय भावों से भर जाता किन्तु भावों को शब्द नहीं मिलते। वह सोचता ''प्रकृति मानव के लिए वरदान है। जल, वायु, प्रकाश के रूप में प्रकृति ने मनुष्य को अनुपम उपहार दिया है। वन उपज प्रकृति के उपहार के सहारे मानव सुखमय जीवन व्यतीत कर सकता है किन्तु मनुष्य प्रकृति के रहस्य को समझने में असमर्थ है। प्राकृतिक

साधनों को नष्टकर आत्मघाती कदम उठा रहा है। प्रकृति का असंतुलन ही मानव-जीवन के दुखों का मूल कारण है।'' आचार्य संघ का विहार निर्विघ्न चल रहा था। विद्याधर कहार बने डोली उठा रहे थे श्रवणबेलगोल के निकट यात्री दल पहुँचा। सर्पीली पहाड़ियाँ, दुर्गम चढ़ाई, देवदारुओं का सघन वन, दूर दूर तक कोई बस्ती नहीं। कहार हाँफने लगे हय्या हय्या करने लगे। युवा विद्याधर के कंठ से एक मधुर गीत झरने लगा

अर्हत् राम, रमैया
हैया हो रे, हैया
मेरे अर्हत् पावन हैं
करुणा के वे सावन हैं
जन्म मृत्यु के दोनों तट से
पार लगाते नैया
अर्हत्, राम रमैया
हैया हो रे, हैया
मिट्टी के घर में बैठा है
अजर-अमर अविनाशी
बंद पींजरा, पंख शिथिल हैं
और चेतना प्यासी
जल पोखर में डूब रहा है
सागर का तैरैया
अर्हत् राम, रमैया
हय्या हो रे, हय्या
मिट्टी सान रही मिट्टी को
चकित है हंस विचारा
शाख-शाख पर डोल रहा है
मिला न कोई सहारा

सुख के सारे दाने चुग गई
देखों रे काल चिरैया
अर्हत् राम, रमैया
हय्या हो रे, हय्या
आती, जाती सांसों के संग
एक मुसाफिर ठहरा
बाहर देखों घात लगाये
मरण दे रहा पहरा
सूरज डूबा, तत्क्षण जाना
चलने लगी पुरवैया
हय्या हो रे, हय्या
अर्हत् राम, रमैया

आचार्य श्री देशभूषण जी ने यह अध्यात्म गीत, सुना तो वह मुग्ध हो गये। उन्होंने स्नेह भरे स्वर में कहा, ''तेरा कंठ तो बड़ा मधुर है, कहाँ से सीखा, यह आध्यात्मिक गीत'' विद्या ने कहा, ''गुरुदेव! सब आपका आशीर्वाद है।''

भारतीय संस्कृति का समुज्ज्वल तीर्थ श्रवणबेलगोल निकट आ गया। आदि सिद्ध गोम्मटेश्वर बाहुबली की प्रतिमा का शीर्ष भाग बारह किलोमीटर दूर से दृष्टिगोचर होने लगा। एक हजार वर्ष पूर्व गंगवंशीय नरेश के यशस्वी सेनापति चामुंडराय ने इस प्रतिमा का निर्माण कराया था। आचार्य देशभूषण जी एवं सभी संघस्थों ने प्रतिमा के शीर्ष भाग के दर्शन होते ही सिर झुकाकर प्रणामांजलि अर्पित की। निर्विघ्न दीर्घ यात्रा की समाप्ति का क्षण निकट था, सभी प्रमुदित हो उठे।

आदि सिद्ध गोम्मटेश्वर बाहुबली की भव्य, दिव्य और चमत्कारी ५७ फीट ऊँची कायोत्सर्ग मुद्रा में प्रतिमा भारतीय-संस्कृति की साधनाओं के ज्योतिर्मय पीठों में अनन्य है। महामस्तकाभिषेक के महान् पुण्य पर्व पर

बाल ब्रह्मचारी विद्याधर को आचार्य श्री देशभूषणजी ने सप्तम प्रतिमा के व्रत दिये। महामस्तकाभिषेक की भव्य और दिव्य अनुभूति अनिर्वचनीय है। महामस्ताभिषेक की समाप्ति पर आचार्यश्री कर्नाटक के विभिन्न स्थलों पर विहार करना चाहते थे, उसमें विद्याधर की जन्मस्थली सदलगा का नाम भी था। विद्याधर सदलगा जाना नहीं चाहते थे। जयपुर से श्रवणबेलगोल की श्रमसाध्य, कठोर, दीर्घ यात्रा ने उन्हें परीषह सहने की शक्ति प्रदान की थी। उनकी चिन्तन और कल्पना शक्ति का विस्तार हुआ था किन्तु उनकी ज्ञानार्जन की तीव्र लालसा अतृप्ति का अनुभव कर रही थी। आदि सिद्ध गोम्मटेश्वर की प्रतिमा श्रमण साधना के चरम उत्कर्ष का प्रतीक है। युवा विद्याधर गोम्मटेश्वर के समान निर्ग्रन्थ दिगम्बर बनने व्याकुल हो उठे।

किन्तु साधना का गंतव्य उन्हें दूर तक दृष्टिगोचर नहीं हो रहा था। आचार्य देशभूषणजी का संघ सदलगा के निकट पहुँचा। विद्याधर ने आचार्यश्री से विनम्रता पूर्वक अनुरोध किया–''संघ में रहते हुए एक वर्ष बीत गया, मैंने दिगम्बरी दीक्षा के साथ ज्ञानार्जन को जीवन का उद्देश्य बनाया था, मेरा उद्देश्य पूरा नहीं हो पा रहा, आप ही कोई मार्ग बताइये।'' आचार्य देशभूषण जी ने कहा, ''वत्स। तुम्हारा कथन सत्य है। संघ में सभी सदस्य ज्ञान-ध्यान में लीन रहते हैं। संघ में ऐसा कोई विद्वान् नहीं है, जो नये दीक्षितों को विशाल आगम का अध्ययन करा सके। वर्तमान परिस्थितियों में तुम स्वयं निर्णय करो कि संघ में रहना चाहते हो अथवा नहीं। मैं तुम्हारे असंतोष से परिचित हूँ।''

विद्याधर– ''गुरुदेव! संघ का वातावरण अत्यन्त पवित्र है। आपका मंगल सान्निध्य मेरे लिए सौभाग्य की बात है किन्तु मैं मात्र संयम के एकाकी पथ का पथिक नहीं बनना चाहता। मेरी हार्दिक भावना है, मैं आत्मा-परमात्मा के रहस्य को समझूँ। तीर्थंकरों की महान् दिव्यध्वनि को आत्मसात् करूँ। आगम-साहित्य विपुल और विशाल है और अधिकांश भाग प्राकृत भाषा में निबद्ध है, टीकाएँ संस्कृत भाषा में उपलब्ध हैं, मैं मूल आगम और उनकी टीकाओं को आत्मसात् करना चाहता हूँ। आप मेरा

मार्गदर्शन करें।''

आचार्य देशभूषणजी ने कहा– ''वत्स! तेरी भावना उत्कृष्ट है यदि तेरी भावनाओं की पूर्ति इस संघ में संदिग्ध है तो तू मुनि ज्ञानसागर के पास जा और ज्ञान पाने याचना कर। वे अजमेर में विराजमान हैं। ज्ञान और साधना का अनुपम संगम है। युग के महानतम् आचार्य शांतिसागरजी के परम तपस्वी शिष्य आचार्य वीरसागरजी के संघ में पंडित भूरामल के नाम से प्रसिद्ध थे। उन्होंने आचार्य वीरसागरजी से क्षुल्लक दीक्षा भी ली थी। वे जैन-दर्शन, संस्कृत एवं प्राकृत-भाषा के मनीषी विद्वान् हैं, यदि वे तुझे संघ में स्वीकार करलें तो तेरी मनोकामना पूर्ण हो सकती है। मैं तुझे आशीर्वाद देता हूँ, तेरी मनोकामना पूर्ण हो वत्स! तेरा कल्याण हो।''

❑ ❑ ❑

सुदूर कर्नाटक प्रांत के श्रवणबेलगोल से थकान भरी यात्रा कर, भूखे प्यासे विद्याधर अजमेर, राजस्थान आये। जैन देवालय में उन्होंने एक साधर्मी से मुनि ज्ञानसागरजी के विषय में पूछा। उसने कहा,''पता नहीं मुनि ज्ञानसागरजी विहार कर किस ओर गये हैं, पर तुम ज्ञानसागरजी का पता जानना चाहते हो तो कजौड़ीमल जी से मिलो। वे मुनि भक्त हैं उन्हें पता रहता है कि आचार्यों के संघ कहाँ-कहाँ विराजमान हैं। उनका पता मैं बताये देता हूँ।''

विद्याधर कजौड़ीमलजी का पता पूछते-पूछते कजौड़ीमल जी निवास पर पहुँचे और द्वार पर आवाज लगाई-''कजौड़ीमल जी, कजौड़ीमल जी! भीतर से भरभराती आवाज आई'' कौंड़ है रे।

''मैं विद्याधर दक्षिण भारत से आया हूँ।''

कजौड़ीमल– ''रुक, मैं अभी आया।'' कुछ क्षण पश्चात् एक प्रौढ़ व्यक्ति बाहर आया। धोती पहिने, कमीज और पीला साफा बांधे। उनकी भाषा ठेठ राजस्थानी थी। उसने बाहर आकर कहा-''अब बोल कौन है कहाँ से आया है और मुझसे क्या चाहता है?''

विद्याधर– ''कम से कम शब्दों में अधिकतम जानकारी चाहने

वाले कजौड़ीमल को देखकर सकुचाये फिर बोले, श्रीमान्! मैं विद्याधर ब्रह्मचारी हूँ। दक्षिण भारत सदलगा, कर्नाटक का निवासी हूँ। अभी तक आचार्य देशभूषणजी के संघ में था। मुनि ज्ञानसागरजी महाराज के पास ज्ञान प्राप्त करने और आत्मसाधना करने आया हूँ।''

कजौड़ीमल –''पर मुनिश्री मदनगंज–किशनगढ़ में विराजमान हैं।''

विद्याधर –''आप मेरा मार्गदर्शन करें। मैं शीघ्र ही आचार्यश्री के दर्शन करना चाहता हूँ।''

कजौड़ीमल ने आचार्य ज्ञानसागरजी का पता बताया। विद्याधर चलने लगा तो कजौड़ीमल बोले रुक, फिर बोले कुछ खाया पिया या नहीं!

विद्याधर–'' श्रीमान्! मैं सप्तम प्रतिमाधारी हूँ। बिना देवदर्शन के भोजन नहीं करता।''

कजौड़ीमल– ''तभी मैं सोच रहा था युवा होकर भी मुरझाया–सा क्यों लगे है! चल अन्दर स्नान करले, देवदर्शन के बाद में आचार्य ज्ञानसागरजी के दर्शनों को जाना।''

विद्याधर ने अत्यन्त संकोचपूर्वक कहा–''नहीं श्रीमान्! मैं आचार्यश्री के दर्शन पहले करना चाहता हूँ।''

कजौड़ीमल–''चल रहने दे। तू अभी कजौड़ीमल को नहीं पहचानता। वह मुनि भक्त ही नहीं मुनि भक्तों का भी भक्त है। मुनिश्री से भेंट करने की चिन्ता छोड़ दे। मैं स्वयं तेरे साथ चलूँगा। तेरी भेंट करवा दूँगा आगे तेरा भाग्य है। यदि उन्होंने तुझे अपना शिष्य बना लिया तो तेरा भाग्य खुल जायेगा।''

विद्याधर दैनिक चर्या से निवृत्त हुए स्नान किया, देवदर्शन कर भोजन किए। पश्चात् कजौड़ीमल जी के साथ मुनिश्री ज्ञानसागरजी के पास मदनगंज–किशनगढ़ पहुँचे।

दिगम्बर जैन मन्दिर के समीपवर्ती कक्ष में आचार्य ज्ञानसागरजी विराजमान हैं। अत्यन्त वृद्ध अवस्था है किन्तु ज्ञान और संयम की साधना

से मुखाकृति कान्तिमय है। कजौड़ीमल एवं विद्याधर ने आचार्य कक्ष में प्रवेश किया। दोनों ने आचार्यश्री के चरण स्पर्श किए और एक तरफ बैठ गए।

कजौड़ीमल ने मुनिश्री से अनुरोध किया–''मुनिश्री! यह युवक सुदूर दक्षिण भारत से आपके पास ज्ञान प्राप्ति की आकांक्षा से आया है।'' आचार्यश्री ने सहज मधुरवाणी में कहा–**ऐसे तो अनेक आते–जाते रहते हैं।**

विद्याधर को लगा कि वह जिस उद्देश्य से आया था वह दिव्य स्वप्न था। यात्रा में ज्ञानाराधना का जो नीड़ बुना था, उसके तिनके–तिनके बिखरते दिखे। वह निराशा के अन्धकार में डूबने लगा। उसने विनम्रता पूर्वक कहा ''गुरुदेव! मैं आपके श्री चरणों में बैठकर आगम का विशाल–ज्ञान अर्जित करना चाहता हूँ। मैंने गृहत्याग कर दिया है। आचार्यश्री देशभूषण जी से आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत लिया है, यदि आपने चरणों में स्थान नहीं दिया, तो जीवन निरुद्देश्य और निरर्थक हो जायेगा। मैं आपसे याचना करता हूँ मुझे अपने शिष्य के रूप में स्वीकार कीजिए।'' मुनि ज्ञानसागर जी ने जिज्ञासा भरी दृष्टि उठाई और युवक की ओर देखकर बोले– ''क्या नाम है?''

युवक – 'विद्याधर!' नाम सुनकर मुनि ज्ञानसागरजी के अधरों पर मन्द हास्य उतर आया फिर बोले, ''विद्याधर का क्या भरोसा? विद्याधर मायावी होते हैं। एक स्थान पर रुकना उनकी नियति नहीं। ज्ञान प्राप्त कर अदृश्य हो गए तो?''

विद्याधर –''गुरुदेव! मैं आपको कैसे विश्वास दिलाऊँ कि जीवन पर्यन्त आपके चरणों की सेवा करता रहूँगा। मैं आपके श्री चरणों में बैठकर माँ जिनवाणी को साक्षी जान कर प्रतिज्ञा करता हूँ कि **जीवन पर्यन्त वाहन का प्रयोग नहीं करूँगा।**'' मुनि ज्ञानसागरजी ने विस्मित होकर विद्याधर की ओर दृष्टि उठाई, उसके नयनों में झाँककर देखा, मुखाकृति का अध्ययन किया उन्हें लगा इस युवक में विलक्षण संकल्प- शक्ति है। यह युवक वास्तव में ज्ञान प्राप्ति का अधिकारी है। मेरी आयु पूर्ण होने जा रही है। मेरी

हार्दिक भावना थी कि कोई ज्ञान-पिपासु आए और मैं अपने ज्ञान का अक्षय कोष, उसे सौंपकर संसार से प्रयाण कर सकूँ। यह सोचकर मुनिश्री भावुक हो उठे और बोले-**''यदि तू ज्ञानाराधना के लिए संकल्पित है तो एक दिन तुझे विद्याधर से विद्यासागर बना दूँगा।''** विद्याधर ने भाव विभोर होकर गुरुदेव के चरण पकड़ लिए और शीश उनके चरणों में रख दिया। हर्ष से उसके नयन आर्द्र हो गए। कुछ क्षण पूर्व वह निराशा के गहरे अन्धकार में डूबता चला जा रहा था। सहसा उसे प्रकाश की समुज्ज्वल रेखाएँ दृष्टिगोचर होने लगीं। उसका खोया हुआ विश्वास लौट आया। उसने भाव विभोर होकर कहा ''गुरुदेव! आपका आशीर्वाद पाकर उपकृत हुआ। आज से ज्ञानाराधना ही मेरा लक्ष्य होगा। विश्वास रखें, मैं आपके पवित्र नाम की पावनता को अक्षुण्ण रखने का प्रयत्न करूँगा।''

गुरुदेव ने अपना वरदहस्त विद्याधर के शीश पर रखा वैसे ही विद्याधर ने अपना शीश गुरुदेव के चरणों में रख दिया। ज्ञान और विद्या दीर्घ काल से एक दूसरे को खोज रहे थे। उनका संगम हो रहा था।

❑ ❑ ❑

मुनि ज्ञानसागरजी अपने युवा शिष्य विद्याधर के साथ चर्चा में व्यस्त हैं। ज्ञानसागरजी ने कहा-''वत्स! विद्याधर! मैंने अपना सम्पूर्ण जीवन जैन-दर्शन के गूढ़ रहस्यों को खोजने में व्यतीत कर दिया। जैन-धर्म अत्यन्त वैज्ञानिक-धर्म है। आत्मा अरूपी है, पुद्‌गल जड़ है। आत्मा रूप, रस, गंध, वर्ण से रहित है, एक अदृश्य और अरूपी पदार्थ है। पुद्‌गल में चेतना का अभाव है। जैन-दर्शन के अनुसार जीव-अजीव की क्रियाएँ और अजीव-जीव की क्रियाएँ नहीं कर सकता है। इस कर्मसिद्धान्त के कारण जीवन का रहस्य अत्यन्त जटिल हो गया है। एकान्त दृष्टि से इस सत्य को स्वीकार कर लें तो जीवन का कार्य क्षेत्र शून्य के अतिरिक्त कुछ नहीं है किन्तु हम देखते हैं प्रत्येक प्राणी कर्म कर रहा है। जीवन का व्यवहार दो विरोधी-तत्त्वों का सामंजस्य कैसे स्थापित करता है इस रहस्य को समझे बिना जैन-दर्शन की वर्णमाला के अक्षर तक भी समझे नहीं जा

सकते। अनेकांत-स्याद्वाद जैनधर्म के प्राण हैं। बहुत सावधानी पूर्वक विभिन्न दृष्टिकोणों से वस्तु को समझने का प्रयत्न करना। तत्त्वों का अभ्यास करना। सैद्धान्तिक दृष्टि से शक्ति की अपेक्षा और स्थिति अभिव्यक्ति की अपेक्षा से वस्तु के यथार्थ को समझने का प्रयत्न करना, यही जैन-दर्शन में प्रवेश करने का सम्यक् सूत्र है।'' भाषा जड़ है, शब्द निर्जीव हैं किन्तु भाव सम्यक् प्रकार से भाषा के माध्यम से ही अभिव्यक्त किये जा सकते हैं। शब्द, अनुभूति के द्वार तक पहुँचा देते हैं किन्तु अनुभूति प्राप्त करने स्व के द्वार पर दस्तक देनी पड़ती है। स्व को बहुत गहरे में प्रवेश करना पड़ता है और जो अनुभूत होता है, वह चेतना को सत्य से परिचित कराता है इसलिए दर्शन के मर्म को समझने के लिए भाषा का निष्णात विद्वान् होना आवश्यक है अन्यथा शब्द न बात करेंगे, न बोलेंगे, गूँगे, बहरे बने रहेंगे। स्मरण रखना, शब्द को निर्जीव होने पर भी ब्रह्म कहा जाता है।''

''दिव्यध्वनि निरक्षरी है। ओंकार-ध्वनि रूप है। गणधर देवों ने दिव्यध्वनि को प्रत्यक्ष शब्द रूप अभिव्यक्त किया है और प्राचीन दिगम्बर आचार्यों ने काँटों की तूलिका से ताड़ पत्रों पर विश्व कल्याण हेतु दिव्यध्वनि को लिखा है। उपलब्ध आगम साहित्य मूलतः प्राकृत पश्चात्वर्ती संस्कृत और अपभ्रंश भाषा में निबद्ध है। मूल साहित्य से साक्षात्कार किए बिना धर्म का मर्म समझना असम्भव है।''

तुम्हारी यात्रा कठिन है, तुम्हें भाषा एवं दर्शन-शास्त्र दोनों का गहन अध्ययन करना है। मैंने बहुत लम्बे समय तक श्रमणों, श्रावकों को जैनदर्शन पढ़ाने का सम्यक् कार्य किया है किन्तु मुझे ऐसा प्रतीत नहीं होता कि जैनदर्शन के अनन्त रहस्यों में गहराई से प्रवेश करने वाला जिज्ञासु मुझे अभी तक मिला हो। जीवन की सांध्य-बेला में मेरी हार्दिक भावना है कि अल्प समय में जितना अधिक ज्ञान तुम्हें दे सकूँ उतना अधिक सन्तोष मुझे होगा। वत्स! समर्पित भाव से संकल्पित होकर ज्ञान आराधना प्रारम्भ कर दो। मैं आज ही से ज्ञान दान देना प्रारम्भ करता हूँ, यह तुम्हारी शक्ति पर निर्भर करता है तुम कितना प्राप्त करते हो?

विद्याधर– "गुरुदेव! बाल्यकाल से ही मेरी जिजीविषा रही है कि जैनदर्शन के अनन्त-रहस्यों से परिचित हो सकूँ, तदनुसार आचरण कर सकूँ। आप विश्वास रखें आपकी भावनाओं को आहत नहीं होने दूँगा।"

मुनि ज्ञानसागर–वत्स! तेरा कल्याण हो। तेरी मनोकामना पूर्ण हो। तेरी मनोकामना में मेरे सोये सपने साकार होंगे।"

❑ ❑ ❑

मुनि ज्ञानसागरजी ने विद्या को दान देना प्रारम्भ किया। दो तीन घंटे नियमित पढ़ाते। ज्ञान-पिपासु विद्याधर ज्ञान प्राप्ति की आकांक्षा से आए थे इसलिए नियमित पढ़ते, कंठस्थ करने योग्य श्लोकों को कंठस्थ करते। गुरुदेव अपने शिष्य की दिनचर्या और अध्ययन से संतुष्ट थे। विद्याधर कजौड़ीमलजी के साथ रहते। एक दिन आचार्य ज्ञानसागरजी ने कजौड़ीमल जी से पूछा–"कजौड़ीमल विद्या रात्रि एवं दिन में पढ़ता भी है अथवा प्रमाद में समय नष्ट कर रहा है।"

कजौड़ीमल ने कहा – "गुरुदेव पढ़ता तो है पर मैंने इस पर ध्यान नहीं दिया।"

ज्ञानसागरजी ने कहा–"तुम्हें ध्यान रखना चाहिए। चुपचाप देखकर उसकी रात्रिकालीन-चर्या बताओ।" कजौड़ीमल सावधानीपूर्वक विद्याधर की रात्रिकालीन-चर्या का निरीक्षण करने लगे। विद्या लगभग मध्यरात्रि तक अध्ययन करता, प्रातः चार बजे सामायिक कर पुनः अध्ययन प्रारम्भ कर देता। उसकी नियमित दिनचर्या देखकर कजौड़ीमल बहुत प्रसन्न हुए और ज्ञानसागरजी को बताया "आपका शिष्य बहुत होनहार है। बहुत कम सोए हैं। सारी रात पढ़तो रैय है, मुझे तो लगे है यह ज्ञानसागर बन के रैयगो। कैय रात जगने में खोटी हो गई। महाराज एक बात म्हारी समझ में नहीं आई हीरा लाके भी देय और परख भी हम करें।"

कजौड़ीमल की बात सुनकर ज्ञानसागरजी बहुत देर तक हँसते रहे, फिर बोले "अच्छी खबर लाया है।" विद्या का ज्ञान के प्रति असीम समर्पण देखकर ज्ञानसागरजी विद्या को पाँच छह घंटे नियमित पढ़ाने लगे।

भाषा एवं व्याकरण भी पढ़ाते किन्तु साथ ही व्याकरण एवं भाषा पढ़ाने पंडित महेन्द्रकुमारजी को नियुक्त किया। विद्या के हर्ष का पारावार न था। अध्ययन प्रारम्भ करते ही आचार्यश्री ने एक सूत्र स्मरण करा दिया था, ''ज्ञानाराधना का लक्ष्य होता है, चारित्र-विशुद्धि। ज्ञान नयन के समान है जो पथ को आलोकित करते हैं जिससे चारित्र निर्भय होकर विचरण कर सके।'' गुरुदेव भाषा, व्याकरण, जैनदर्शन के साथ निर्ग्रन्थ-श्रमणों की आचार-संहिता से परिचय करा रहे थे। जैन-श्रमणों की आचार-संहिता के अतिचारों का सूक्ष्म दिग्दर्शन करा रहे थे। विद्याधर आचार्यश्री के सूक्ष्म संकेतों को ग्रहण कर रहे थे। तदनुकूल अनुभूति में अपनी आचरण-संहिता निर्माण कर रहे थे। गुरुदेव के सान्निध्य में आने के बाद से दिन में मात्र एक बार भोजन एवं जल ग्रहण करते। समय-समय पर केशलोंच करते, विभिन्न दिगम्बर-चर्याओं का अभ्यास करते। वे जानते थे कि दिगम्बरी- दीक्षा यम-सल्लेखना की भाँति होती है, जो एक बार स्वीकार करने के पश्चात् त्यागी नहीं जा सकती। संसार की समस्त साधनाओं में दिगम्बर- साधना दुष्कर किन्तु सर्वोत्कृष्ट है। अध्ययन काल में समय-समय पर उपवास रखते। उपवास काल में अध्ययन एवं दैनिक चर्या में कोई अन्तर नहीं आने देते। वह अपनी साधना के स्वयं ही परीक्षक और स्वयं ही निर्णायक थे। मुनि ज्ञानसागरजी अपने शिष्य की साधना देखकर प्रसन्न थे विस्मित और विमुग्ध भी।

❑ ❑ ❑

मुनिश्री ज्ञानसागरजी के संघ में विद्याधर को अध्ययन करते हुए आठ माह बीत गए। इन आठ महिनों में निरन्तर अध्ययन करने के कारण एवं जीवन की दिशा निश्चित हो जाने के कारण उनके व्यक्तित्व में अद्भुत निखार आया। उनके आत्मविश्वास में आशातीत वृद्धि हुई। एक दिन मुनिश्री विद्या को पढ़ा रहे थे। मुनिश्री प्रश्न करते विद्या तत्काल उत्तर देते। मुनिश्री ने विद्या के आन्तरिक भावों की परीक्षा लेनी चाही। विद्या कभी पिच्छिका की ओर देखते, कभी कमण्डलु की ओर। श्रमणों के उपकरणों

को जिज्ञासा भरी दृष्टि से देखने के कारण लगता जैसे दोनों उपकरणों को पाने आतुर हों। जैसे ही विद्या की दृष्टि पिच्छिका पर पड़ी ज्ञानसागरजी ने प्रश्न किया, विद्या! क्या देख रहा है?

विद्या– गुरुदेव! ''मैं अपना भविष्य देख रहा हूँ।'' उत्तर सुनकर गुरुदेव के अधरों पर हास्य उतर आया और बोले ''व्यक्ति स्वयं अपने भविष्य का निर्माता होता है।''

विद्या–''किन्तु मेरा भाग्य तो आपके मंगल आशीर्वाद में निहित है, आपके आशीर्वाद के बिना वह साकार रूप ग्रहण नहीं कर सकता। ज्ञानसागरजी ने विद्या के प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया और कहा, ''वत्स! क्या पहले कभी पिच्छिका बनाई है?

विद्या–''नहीं गुरुदेव! कभी पिच्छिका बनाने का अवसर ही नहीं मिला। मुनिश्री ने पूछा –''क्या पिच्छिका बना सकता हैं?''

विद्या–हाँ गुरुदेव! ज्ञानसागरजी ने अपनी पिच्छिका उठाई और मयूर पंखों को बिखरा दिया। विद्याधर को लगा जैसे इन मयूर पंखों में उसका भविष्य बिखरा पड़ा है। गुरुदेव ने अभी-अभी संकेत दिया था, मनुष्य अपने भाग्य का स्वयं निर्माता होता है।

क्या मयूर पंखों की पिच्छिका के निर्माण से उसके भविष्य का कोई सम्बन्ध है? उसके अन्तःकरण ने उत्तर दिया, ''निर्ग्रन्थ न किसी वस्तु को बनाते हैं और न नष्ट करते हैं किन्तु जीव रक्षा का उपकरण पिच्छिका यदि शिथिल भी हो जाए तो उसका सुधार निश्चित करते हैं। यह एक निःशब्द प्रश्न है।'' उसने सावधानी पूर्वक मयूर पंखों को उठाया, साफ किया और सुगठित पिच्छिका का रूप प्रदान किया, तत्पश्चात् पिच्छिका को श्रद्धापूर्वक गुरुदेव को भेंट की। मुनि ज्ञानसागरजी प्रमुदित हुए, उन्हें अनुभूति हुई जिस दिशा में वह अपने शिष्य को गतिशील देखना चाहते थे उस दिशा में वह द्रुत गति से बढ़ रहा है।

ज्ञान और साधना के क्षेत्र में विद्याधर अपनी प्रतिभा से गुरुदेव को परिचित करा चुके थे, किन्तु श्रमण को परीषह विजयी भी होना आवश्यक

है? किन्तु उनके पास यह जानने का कोई साधन नहीं था कि उनका शिष्य परीषह विजयी बन सकेगा अथवा नहीं?

जीवन में सुख-दुख जो भी घटित होता है उसके पीछे कोई अदृश्य कारण अवश्य होता है। ज्ञानसागरजी की आयु लगभग अस्सी वर्ष की हो चुकी थी। मानसिक रूप से वह पूर्णतः स्वस्थ थे किन्तु देह प्रतिक्षण क्षीण होती जा रही थी। युवा विद्याधर ने अपनी सेवा भावना से गुरुदेव के हृदय में अप्रतिम स्थान बना लिया था और गुरुदेव को विश्वास हो चला था कि यह मेरी आचार्य परम्परा को अक्षुण्ण रख सकेगा।

एक रात्रि मुनि ज्ञानसागरजी विद्याधर के सहारे लघु शंका से निवृत्त होकर लौट रहे थे, दैवयोग से विद्याधर के पाँव में बिच्छू ने डंक मार दिया।

असहनीय वेदना हुई। मुनिश्री ने श्रावकों को विद्याधर का उपचार कराने हेतु निर्देश दिए, किन्तु विद्याधर ने उपचार कराना स्वीकार नहीं किया। पीड़ा को सहन करते हुए कहा-"कष्ट पूर्व अर्जित कर्मों का फल है, मुझे सहन करने दो। पीड़ा परीषह सहन करना साधकों की नियति है। अभी तो साधना का प्रारम्भिक चरण है। कौन जाने भविष्य में मेरे हिस्से में कितनी पीड़ाएँ लिखी हैं? शारीरिक-कष्टों एवं भौतिक अभावों में जो अप्रभावित रहे, वही आत्म-साधना का अधिकारी है। यही सम्यग्दर्शन की वास्तविक पहचान है। देह, आत्मा से पृथक् है आत्म-साधना की यही सर्वोत्कृष्ट अनुभूति है।"

रात्रि का अन्तिम प्रहर है। सूर्योदय अभी हुआ नहीं है। सूर्य की सुहागन बेटियाँ-रश्मियाँ जन्म लेने को अकुला रही हैं। भोगियों के सोने और योगियों के जागने का समय है। गुरु-शिष्य सामायिक में लीन हैं। सामायिक का अर्थ है स्व के समीप होना।

सूर्योदय के साथ ही निस्तब्धता टूटी, पक्षियों का मधुर कलरव गान प्रारम्भ हुआ। गुरु-शिष्य की सामायिक पूर्ण हुई। नासा पर से दृष्टि हटी। अधरों से सिद्धम् नमः-सिद्धम् नमः का पवित्र उच्चारण सुनाई पड़ा।

विद्या-"सूर्योदय की मंगल-बेला में गुरुदेव के श्रीचरणों में सादर

नमोऽस्तु।''

मुनिश्री—''सुखी रहो वत्स!''

सूर्योदय हो चुका है, पथ स्पष्ट दिखने लगा। गुरु-शिष्य शौच के लिए जंगल की ओर चल दिये। प्रकृति ने हरित-चूनरी ओढ़ रखी थी। वर्षाकाल था, प्रकृति अनियंत्रित हो उठी थी, मिट्टी से सौंधी-सौंधी गंध उठ रही थी। गुरु-शिष्य शौच क्रिया से लौटे। गुरु एवं शिष्य ने अपना-अपना आसन ग्रहण किया।

विद्या—''गुरुदेव!''

मुनिश्री—''कहो वत्स! कुछ दिनों से मुझे प्रतीत होता है कि तुम कुछ कहना चाहते हो किन्तु संकोच कर रहे हो। स्पष्ट बताओ क्या बात है?''

विद्या—''आप अनुमति प्रदान करें तो मैं निर्ग्रन्थ दिगम्बर बनना चाहता हूँ।''

मुनिश्री—''वत्स! दीक्षा का क्रम होता है। ब्रह्मचारी दीक्षा के पश्चात् क्षुल्लक, फिर ऐलक पश्चात् मुनि दीक्षा प्रदान की जाती है, किन्तु यह कोई नियम नहीं है। यदि साधक परिपक्व और दृढ़ संकल्पी हो तो क्रम का अतिक्रमण कर मुनि दीक्षा भी दी जा सकती है। तुम्हें विरक्ति के मार्ग पर चलते हुए अल्प समय बीता है। पहले स्वयं को परखो उचित आयु में उचित समय आने पर मैं तुम्हें अवश्य श्रमण दीक्षा दूँगा।

विद्या—''गुरुदेव श्रमण-पद की दीक्षा लेने मेरे प्राणों में अकुलाहट है। मैं अपनी साधना से सन्तुष्ट हूँ। यह वस्त्र मुझे भार स्वरूप प्रतीत होते हैं। आप अनुमति प्रदान करें।''

मुनिश्री—वत्स! ''मैंने तुम्हें जो पाठ पढ़ाया था क्या स्मरण है? दिगम्बरी दीक्षा तलवार की धार पर चलने के समान दुष्कर और बालू के ग्रास चबाने की तरह नीरस एवं कठोर होती है।''

विद्या—''आपने जो पाठ पढ़ाया था वह कंठस्थ ही नहीं मैंने उसे आत्मसात् कर लिया है। मेरी चेतना देहातीत होती जा रही है। मरण भय भी

मेरे समीप आने का साहस नहीं करता। मैं दिगम्बरी-दीक्षा लेने के लिए संकल्पित हूँ। यही मेरे जीवन का उद्देश्य है। वस्त्रों की आवश्यकता और आकर्षण हृदय में समाप्त हो चुका है। भावनात्मक रूप से मैं वस्त्रों को विसर्जित कर चुका हूँ। दिगम्बरत्व ही मेरा परम लक्ष्य है। आपकी आज्ञा के अतिरिक्त मेरे मार्ग में कोई बाधा नहीं है।

मुनिश्री—"आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त करना आचार्यों का काम है। मैं क्यों बनने लगा तेरे मार्ग में बाधक। मैं भी चाहता हूँ कि तू श्रमण दीक्षा ले किन्तु स्वीकार करने के पूर्व सोच ले। दीक्षा यम-समाधि की तरह है, एक बार स्वीकार करने के पश्चात् छोड़ी नहीं जा सकती। श्रमण पद से च्युत होने पर लोक और परलोक बिगड़ जाते हैं।"

विद्या—"गुरुदेव! मैं आपका शिष्य हूँ, विश्वास रखें आपकी आस्था, विश्वास और कीर्ति को कलंकित नहीं होने दूँगा।"

मुनिश्री—"वत्स! श्रमण-दीक्षा युवा आयु में देने से लोकोपवाद उत्पन्न होगा।

विद्या— "यह सत्य है गुरुदेव! पर मैं अपनी साधना से संसृति को चकित और पुलकित कर दूँगा कि आपने जो दीक्षा की अनुमति प्रदान की वह सार्थक थी।"

मुनिश्री —"संसृति को चकित और पुलकित कर देगा? क्या आत्म प्रशंसा कर रहा है!"

विद्या— "नहीं गुरुदेव! यह मेरे आत्मविश्वास की पराकाष्ठा है। मैं निस्पृही होने जा रहा हूँ, आत्म प्रशंसा करके क्या करूँगा?"

मुनिश्री— "वत्स! ध्यान से सुन। वासना और विरक्ति दो विरोधी आयाम हैं। पर वासना और विरक्ति का स्थान एक ही है मन। मन में जब वासना होती है तब विरक्ति नहीं होती है और जब विरक्ति होती है तो वासना नहीं होती। किन्तु मन की गति समझना दुर्लभ है, अत्यन्त दुर्लभ है पलक झपकते ही वासना द्वार पर दस्तक दे सकती है, क्या इस सन्दर्भ में तूने विचार कर लिया है?"

विद्या–''मेरा अखण्ड-ब्रह्मचर्य इस बात का स्वयं साक्षी है। मैं विरक्ति को आत्मसात् कर चुका हूँ। वासना से मेरा परिचय तक नहीं। अपरिचय से परिचय करने की मेरी भावना भी नहीं है। गुरुदेव मैंने अपनी शारीरिक एवं मानसिक क्षमता को परख लिया है। गुरुदेव अपने शिष्य पर शंका न करें।''

मुनि ज्ञानसागरजी हँसने लगे। फिर बोले-''वत्स! तू मेरी आशा और विश्वास का केन्द्र बिन्दु है, मैं तुझ पर शंका क्यों करने लगा? गुरु का दायित्व है कि दीक्षा के पूर्व शिष्य को दीक्षा के पश्चात् आने वाली परिस्थितियों से परिचय करा दे। वत्स! निराश मत हो मैं ज्ञानसागर तुझे श्रमण दीक्षा दूँगा।''

सोनीजी की नसियाँ के भव्य एवं विशाल पंडाल में मुनि श्री ज्ञानसागरजी का मंगल प्रवचन होने वाला था। प्रवचन स्थल पर विशाल जनसमूह उपस्थित था। सभी मुनिश्री के आगमन की प्रतीक्षा कर रहे थे। मुनिश्री संघ सहित पधारे प्रवचन स्थल आदि तीर्थंकर ऋषभदेव तीर्थंकर वर्द्धमान, महावीर की जयघोष से गूँज उठा।

मुनिश्री का मंगल प्रवचन प्रारम्भ हुआ

मुनिश्री ने श्रमण संस्कृति के शीर्षस्थ आचार्य कुन्दकुन्द का मंगल स्मरण किया।

''वन्द्यो विभुम्भुवि न कैरहि कौण्ड कुन्दः,
कुन्द - प्रभा - प्रणय - कीर्ति - विभूषिताशः।
यञ्चारु चारण कराम्बुज चंचरीक,
श्चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयत्नः प्रतिष्ठा।''

''कुन्द पुष्प-प्रभा को धारण करने वाली जिनकी कीर्ति द्वारा दिशाएँ विभूषित हुईं, जो चारणधारी महामुनियों के सुन्दर हस्तकमलों के भ्रमर थे और जिन पवित्र आत्मा ने भरतक्षेत्र में श्रुत की प्रतिष्ठा की वे विभु कुन्दकुन्द इस पृथ्वी पर किसको वंद्य नहीं? अर्थात् सर्व वन्दनीय हैं। भव्य और दिव्य आत्मा भगवत् सम कुन्दकुन्दाचार्य को नमन कर प्रवचन आरम्भ करता

हूँ।''

धर्म प्रेमी बन्धुओं, विश्व के विभिन्न दर्शन आत्मा और उसकी अमरता पर विश्वास करते हैं। आत्मा अरूपी है। रूप, रस, गंध, स्पर्श, वर्ण से रहित एक नित्य शाश्वत द्रव्य है। शाश्वत होने से उसके नाश का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। **समयसार-ग्रन्थ आचार्य कुन्दकुन्द की आध्यात्मिक जगत् को अद्‌भुत देन है। यह ग्रन्थ सात तत्त्वों का परिपूर्ण ज्ञान कराता है। सात तत्त्वों का सामान्य विवेचन तो अन्य ग्रन्थों में भी उपलब्ध है किन्तु समयसार-ग्रन्थ में एक विलक्षण एवं अद्‌भुत परिच्छेद है—''कर्ताकर्म अधिकार'' विश्व दर्शन का इतिहास कर्ता-कर्म अधिकार की विषय वस्तु से अपरिचित है।''**

''आत्मा अरूपी है इसलिए कर्म करने में असमर्थ है, आत्मा केवल भावों की कर्ता है। पुद्‌गल द्रव्य में चेतना का अभाव है इसलिए उसके द्वारा कोई कार्य किया जाना सम्भव नहीं है। फिर जगत् का व्यवहार कैसे चल रहा है? जीव क्यों और कैसे बंध को प्राप्त हो रहा है? यह कि जीव और अजीव की क्रियाएँ पृथक् हैं। दोनों एक दूसरे के क्षेत्र में प्रवेश नहीं करते फिर भी जगत् का व्यवहार कैसे चल रहा है? जीवन का यह व्यवहार उलझी हुई पहेली के समान है। कर्ता कर्म अधिकार के अन्तर्गत कुन्दकुन्दाचार्य ने ७५ गाथाएँ लिखी हैं। एक महत्त्वपूर्ण गाथा के माध्यम से इस रहस्य को समझाने का प्रयत्न करता हूँ। यह गाथा जीव और अजीव के रहस्यमय सम्बन्ध को सुलझाने में सहायक होगी।''

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्य भावस्य
कम्मत्तं परिणमदे तम्हि सयं पुग्गलं दव्वं॥९८॥

''आत्मा जिस भाव का ग्रहण कर्ता है उसका कर्ता होता है और पुद्‌गल द्रव्य तदनुकूल परिणमन करता है। समयसार, श्रमण-संस्कृति का विश्व को दुर्लभ उपहार है। जो जिज्ञासु आत्मा-परमात्मा के रहस्य को जानने की जिज्ञासा रखते हैं, उन्हें समयसार का गंभीरतापूर्वक अध्ययन करना चाहिए। आज का विषय-वस्तु दार्शनिक एवं क्लिष्ट होने के कारण

प्रवचन समाप्त करता हूँ।''

प्रवचन समाप्ति के पश्चात् घोषणा हुई, आपको यह ज्ञात कर प्रसन्नता होगी ३० जून, १९६८ को ब्रह्मचारी विद्याधर को ज्ञानसूर्य मुनि ज्ञानसागरजी मुनि दीक्षा प्रदान करेंगे।

अजमेर जैन समाज में मुख्य चर्चा का विषय था कि मुनि ज्ञानसागरजी युवा ब्रह्मचारी विद्याधर को श्रमण-पद की दीक्षा प्रदान कर रहे हैं। सम्पूर्ण समाज में कौतूहल व्याप्त था कि बाईस वर्षीय युवक जिसे आचार्य संघ में आए अल्प समय बीता है, उसे मुनिश्री श्रमण दीक्षा देने जा रहे हैं। कुछ साधर्मियों का मत था ''ब्रह्मचारी विद्याधर का साहसिक कदम है। साधना के लिए युवा काल ही श्रेष्ठ है, जब देह में शक्ति न रहे, उस समय दीक्षा लेने का कोई अर्थ नहीं होता। वैभव और सम्पन्नता में जिनका जीवन बीत रहा था उनमें से कतिपय श्रेष्ठियों का मत था, युवा दीक्षार्थी की आयु, सुकोमल-शरीर, अल्प साधना काल शंका को जन्म दे रहा है कि क्या यह युवा भविष्य में कठोर श्रमण दिनचर्या का पालन कर सकेगा।'' सम्पूर्ण श्रमण-संस्कृति के आराधक दो पक्षों में बँटे हुए थे। यह सामान्य चर्चा का विषय साधर्मियों में विवाद का विषय बन गया। कुछ दीक्षा के पक्ष में थे, कुछ मुखर विरोध कर रहे थे। कुछ प्रबुद्ध स्त्री-पुरुषों का मत था कि दीक्षा मुनि ज्ञानसागरजी दे रहे हैं। दीक्षा के सन्दर्भ में उनका निर्णय ही सर्वोपरि है। मुनि ज्ञानसागरजी महान् तत्त्ववेत्ता हैं। अपने जीवन काल में अनेक संघों में रहे हैं। श्रमणों को पढ़ाते रहे हैं। पूर्व में वह आचार्य वीरसागरजी के संघ में अध्यापन करवाते रहे हैं। दीक्षार्थी को परखने में भूल नहीं कर सकते। सरसेठ भागचन्द जी तटस्थ भाव से सभी कुछ देख सुन रहे थे। उनका भी मत था कि ब्रह्मचारी विद्याधर को श्रमण पद की दीक्षा तो दी जाये किन्तु एक-दो वर्ष बाद अर्थात् उनकी साधना परखने के पश्चात्।

उन्होंने समाज के प्रतिभावान, सम्पन्न एवं परस्पर दीक्षा के सन्दर्भ में विरोधी विचार रखने वाले व्यक्तियों को बुलाकर कहा-''परस्पर विरोध करने से सामाजिक संगठन छिन्न-भिन्न होता है। हम किसी निर्णय पर भी

पहुँच जायें तो भी हमारा निर्णय अर्थहीन है, इसलिए समाज के सभी वर्गों को मिलकर मुनिश्री से निवेदन करना चाहिए। यदि मुनिश्री दीक्षा कुछ काल के लिए स्थगित रखना चाहते हों तो ठीक है अन्यथा मुनिश्री की आज्ञानुसार दीक्षा महोत्सव की तैयारी करनी चाहिए।'' सभी सर भागचन्द जी के परामर्श से सहमत हुए।

सर भागचन्दजी के नेतृत्व में जैन धर्मावलम्बियों का प्रतिनिधि मंडल मुनि ज्ञानसागरजी के पास गया और मुनिश्री के चरणों में नमोऽस्तु कर बैठ गया। मुनिश्री मौन रहे। सर सेठ भागचन्दजी ने मौन तोड़ा और अत्यन्त विनम्र शब्दों में कहा–मुनिश्री! आप ब्रह्मचारी श्री विद्याधर को श्रमण पद की दीक्षा दे रहे हैं?

मुनि ज्ञानसागरजी–''दीक्षा की शुभतिथि भी निश्चित हो चुकी है।''

भागचन्दजी सोनी–''गुरुदेव! जैन समाज के अधिकांश व्यक्तियों की भावना है कि युवा ब्रह्मचारी विद्याधर को सीधी श्रमण-दीक्षा न दी जाए। दीक्षा के क्रम का अनुपालन किया जाए ऐसी हमारी भावना है।''

मुनि ज्ञानसागरजी–''श्रमण दीक्षा दिये जाने में व्यवधान क्या है? क्या तुमने श्रमण संस्कृति और वैदिक-संस्कृति के इतिहास को पढ़ा है? आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने नौ वर्ष की अल्प आयु में मुनि दीक्षा ग्रहण की थी। नारायण श्री कृष्ण की आध्यात्मिक कृति गीता पर सन्त ज्ञानेश्वर ने ग्यारह वर्ष की आयु में भाष्य ज्ञानेश्वरी शीर्षक से लिखा था। महान् संत ज्ञानेश्वर ने उनके भ्रात संत एकनाथ, साध्वी बहिन मुक्ताबाई ने अल्प आयु में साधना प्रारम्भ कर तेईस वर्ष की आयु में पहुँचते-पहुँचते मुक्ति की खोज में जल समाधि ले ली थी। क्या मेरा शिष्य विद्याधर दिगम्बर श्रमण पद की भी रक्षा न कर सकेगा?''

आप संसारी प्राणी हैं, मुक्ति आपका लक्ष्य नहीं है। श्रमण की भावनाओं को गृहस्थ नहीं समझ सकता। दीक्षा के लिए आयु कोई मापदण्ड नहीं है। यदि दीक्षा के लिए आयु ही मापदण्ड है तो आपमें से कौन–कौन

दीक्षा लेने तैयार हैं!''

श्रेष्ठी समूह एवं प्रतिनिधि मंडल में सन्नाटा छा गया। भारतीय-दर्शन के उद्भट विद्वान्, त्याग एवं दर्शन के निष्णात आचार्य तपस्वी के समक्ष सभी निरुत्तर थे। उपस्थित प्रतिनिधियों में से एक ने साहस कर कहा- गुरुदेव! ''हम आपके निर्णय का विरोध करने नहीं अनुरोध करने आए हैं, हम संसारी और शंकालु प्राणी हैं। विद्याधर जी को संघ में आए मात्र ग्यारह माह हुए हैं, यदि वे अपने पद से स्खलित हुए तो श्रमण संस्कृति का इतिहास कलंकित हो जायेगा।'' यह सुनकर मुनिश्री के अधरों पर मन्द हास्य बिखर गया, वे बोले-अजमेर की समाज जागरुक है इसलिए अभिनन्दन के योग्य है, पर इतना तो विचार करो ज्ञानसागर दीक्षा दे रहा है। शिष्य के प्रति समाज का नहीं, गुरु का दायित्व होता है। यदि विद्या समाज को कलंकित करेगा तो गुरु प्रथम कलंकित होगा। विश्वास रखो यह युवा श्रमण-संस्कृति का नया इतिहास रचेगा। तुम्हारी चिन्ता यह है कि युवा अवस्था में दीक्षा क्यों दी जा रही है और मुझे इस बात का खेद हो रहा है कि यह मेरे पास बाल्यकाल में क्यों नहीं आया?''

गुरुदेव की वाणी सुनकर सभी आश्वस्त हुए। बोझिल वातावरण अत्यन्त सरस हो गया। गुरुदेव ने कुछ क्षण रुक कर अत्यन्त भावुक होकर कहा-

''चतुर्थ काल के मुनियों के सन्दर्भ में तुमने श्रमण-संस्कृति के इतिहास में पढ़ा होगा, तुम सब भाग्यवान हो, इस आश्चर्य को लम्बे काल तक देखोगे। मैं अत्यधिक वृद्ध हो चुका हूँ इस विस्मय को अल्पकाल तक ही देख सकूँगा।''

❑ ❑ ❑

सदलगा (कर्नाटक) में मल्लप्पा परिवार विद्याधर के लौटने की प्रतीक्षा कर रहा है। मल्लप्पा का विचार था- ''दिगम्बर साधना अत्यन्त कठिन है। भावावेश में विद्या आचार्य संघ में रहने लगा है, निकट भविष्य में लौट आयेगा। श्रीमंती जी अपने पति से आग्रह करती-तुम स्वयं जाओ

और विद्या को लौटा लाओ किन्तु मल्लप्पा जी जाने का नाम न लेते। उनका मत था न मैंने जाने की अनुमति दी और न मैं लेने जाऊँगा। विद्याधर की माँ, लघु भ्राता अनन्तनाथ एवं शांतिनाथ, बहिन स्वर्णा एवं शांता अपने भाई विद्या की एक झलक देखने व्याकुल थीं, विद्या से मिलने जाना चाहती थी किन्तु गृहस्वामी मल्लप्पा जी आज्ञा नहीं दे रहे थे।

सहसा विद्याधर के ज्येष्ठ भ्राता महावीर ने पिता श्री मल्लप्पा जी को तार लाकर दिया और बोले पिताश्री– ''मुनि ज्ञानसागरजी के संघ जयपुर से तार आया है, ३० जून, १९६८ को विद्याधर को श्रमण-दीक्षा प्रदान की जावेगी।''

मल्लप्पा जी ने सुनकर कहा–''व्यर्थ की बातें मत करो। ऐसा कौन-सा आचार्य है, जो इस भौतिक युग में बीस वर्ष के युवक को दिगम्बरी दीक्षा देगा? मुझे इस तार की विश्वसनीयता पर संदेह है।'' जाओ अपना काम करो।

फिर कुछ क्षण मौन रहे और बोले ''मैं वर्षों से जैन-साहित्य का अध्ययन कर रहा हूँ। विगत तीस वर्षों से शास्त्र प्रवचन कर रहा हूँ। मैं मुनि दीक्षा लेने का साहस नहीं कर पा रहा हूँ। विद्या युवा है आचार्य संघ में प्रवेश मिले अल्प समय हुआ है, कौन देगा उसे दीक्षा! यह सन्देश मिथ्या है।''

महावीर ने कुछ क्षण रुककर कहा ''मेरे लिए क्या आज्ञा है? दीक्षा समारोह में कौन-कौन जायेगा? आप चलेंगे?'' मल्लप्पा जी ने उत्तर दिया'' कोई नहीं जायेगा। व्यर्थ आने-जाने में समय और धन बर्बाद होगा। मैंने कह दिया यह सन्देश मिथ्या है।''

महावीर ने कहा–''पिता श्री! यह सन्देश मिथ्या नहीं है। अजमेर में ऐसा कौन है, जो हमें मिथ्या समाचार देगा? आप भले ही न जाएँ और न किसी को जाने की अनुमति दें, किन्तु विद्या सांसारिक सम्बन्धों की इति कर, आलौकिक जीवन में प्रवेश कर रहा है। अपने भाई से मिलने का यह अन्तिम अवसर है। यह अन्तिम क्षण है कि मैं उसे विद्या कहकर, भैया

कहकर पुकार सकूँ। दीक्षा के पश्चात् हमारे और उसके सभी सम्बन्ध टूट जायेंगे। वह आपका पुत्र होकर भी, आप उसे पुत्र नहीं कह सकेंगे। मैं ज्येष्ठ भ्राता होकर भी भाई शब्द के मधुर सम्बोधन से सम्बोधित न कर सकूँगा। वह संसार में हमारे बीच रहकर भी हमारा न होकर समष्टि का हो जायेगा। वह आराध्य होगा और हम आराधक। श्रमण संस्कृति की यह परम्परा है। आप कठोरता का त्याग कीजिए। विद्या को श्रमण बनने से कोई नहीं रोक सकता। दीक्षा समारोह में सम्पूर्ण परिवार को चलना चाहिए। आप और माँ को श्रमण दीक्षा के समय उसके माता-पिता होने का गौरव प्राप्त करना चाहिए। पिता श्री चलिए और श्रमण-दीक्षा के समय सम्यक् श्रमण-साधना हेतु आशीर्वाद दीजियेगा। यह क्षण निकला तो लौट कर नहीं आयेगा।''

महावीर के अनुरोध ने मल्लप्पाजी को सोचने को विवश तो किया, किन्तु वह अपने निश्चय पर दृढ़ रहे और बोले, महावीर! ''तू अपना उपदेश रहने दे यदि तुझे जाना है तो चला जा।'' सम्पूर्ण परिवार अजमेर जाने व्याकुल था, किन्तु विवश थे। महावीर सदलगा से अकेले अजमेर चल दिए।

अजमेर जैन समाज में अत्यधिक उत्साह व्याप्त था। दीक्षा समारोह हेतु विशाल एवं आकर्षक सभा मंडप का निर्माण किया गया था। नगर में स्थान-स्थान पर स्वागत द्वार बनाये गये थे। सम्पूर्ण नगर में आकर्षक शब्दों में श्रमण-संस्कृति के आदर्श वाक्य लिखे हुए थे। दीक्षा पूर्व दीक्षार्थी को राजकुमारों की भाँति अलंकृत और सज्जित कर जुलूस निकाला जाता है। राजस्थान में इसे बिनौली कहते हैं।

विद्याधर को बहुमूल्य परिधान एवं आभूषण पहनाये गये। सज्जित हाथी पर उनका जुलूस निकल रहा था। अजमेर के राज-पथ और वीथिकाओं में इस चल समारोह को देखने जन समुदाय उमड़ पड़ा। इस जुलूस की भव्यता और विशालता को लोग कौतूहल भरी दृष्टि से देख रहे थे। युवा विद्याधर वास्तव में बहुत आकर्षक लग रहे थे। दीक्षा के पूर्व दीक्षार्थी का

जुलूस क्यों निकाला जाता है इस सन्दर्भ में लोग विभिन्न दृष्टि कोणों से सोच रहे थे और अपना मत अभिव्यक्त कर रहे थे। कुछ लोगों का मत था यह एक प्राचीन परम्परा है, उसी परम्परा का पालन किया जा रहा है। कुछ विज्ञजन परम्परा का औचित्य बता रहे थे। दीक्षा के पूर्व दीक्षार्थी को भौतिक-उपलब्धियों सुखों से परिचित कराया जाता है, जिससे कि वह भौतिक-सुखों के आकर्षण को देख ले, दीक्षा के पश्चात् ये सब विलीन होने वाले हैं। यदि साधक के हृदय में भौतिक-आकर्षणों के प्रति अनुरक्ति शेष हो तो अभी भी समय है दीक्षा कोई बंधन नहीं है।

इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण समाज दीक्षार्थी को भली-भाँति पहचान ले कि भौतिक सुखों को त्यागने वाला साधक कौन है? जन समूह में आश्चर्य व्याप्त था। इतना सुन्दर-स्वस्थ-युवा कल समस्त परिग्रहों को त्याग कर निर्ग्रन्थ, पाणिपात्री-दिगम्बर-श्रमण बन जायेगा।

चल समारोह अजमेर की वीथिकाओं से निकल रहा था। मध्यान्तर बीत चुका था। महावीर अजमेर आये और दूर से उन्होंने विशाल जुलूस को देखा, भीड़ और जुलूस की विशालता देखकर वह चकित रह गये।

उन्होंने एक राही से पूछा- ''यह जुलूस कैसा निकल रहा है!''

पथिक ने उत्तर दिया- ''शायद तुम परदेशी हो। आज तो चल समारोह का अन्तिम दिन है। कल ब्रह्मचारी विद्याधर को मुनि दीक्षा दी जायेगी, यह जुलूस उसी का है।''

भीड़ पार करते हुए महावीर चल समारोह के हाथी के पास आए उन्होंने देखा, उनका लघु भ्राता राजमुकुट धारण किए आभूषणों से सज्जित हाथी पर बैठा है। वातावरण तीर्थंकरों की जयघोष से गूँज रहा है। महावीर इस भव्य और दिव्य-दृश्य को देखकर यात्रा की थकान भूल गए। सदलगा से चले थे तब हृदय में अनेक संकल्प-विकल्प थे पर वे सुध-बुध भूलकर किसी मंत्र कीलित व्यक्ति की भाँति लघु भ्राता को देखते रहे। आयोजकों को जब ज्ञात हुआ कि सुदूर कर्नाटक सदलगा से विद्याधर के ज्येष्ठ भ्राता आये हैं तो उन्हें सम्मान देने दीक्षार्थी के समीप हाथी पर बिठा दिया। श्रमण

संस्कृति को आराधकों की श्रद्धा देखकर वे अभिभूत हो उठे।

अजमेर के सुप्रसिद्ध देवालय जो कि सोनी जी की नसिया के नाम से प्रसिद्ध है, उसके प्रांगण में विशाल पंडाल निर्मित किया गया। ग्रीष्म ऋतु थी, प्रातः से ही बाल-सूर्य अपनी प्रखर किरणें बिखरा रहा था। दीक्षा स्थल पर प्रतिकूल ऋतु होते हुए भी श्रद्धालुओं की संख्या बढ़ती चली जा रही थी। जाति पंथ का समारोह स्थल पर कोई भेद नहीं था। श्रमण संस्कृति के आराधक, हिन्दू, मुसलमान, पंजाबी सभी वर्ग के लोग समारोह स्थल पर देखे जा सकते थे। सभी शांतिपूर्वक बैठे मुनि ज्ञानसागरजी के शुभागमन की प्रतीक्षा कर रहे थे। ध्वनि विस्तारक यंत्र पर सुप्रसिद्ध श्रेष्ठि भागचन्द जी सोनी आवश्यक घोषणा कर रहे थे। आवश्यक घोषणाओं के पश्चात् घोषणा हुई कुछ ही क्षणों में मुनि ज्ञानसागरजी अपने संघ सहित पधारने वाले हैं। मुनि ज्ञानसागरजी अपने शिष्य क्षुल्लक सन्मतिसागरजी, सम्भवसागरजी, सुखसागरजी एवं ब्रह्मचारी विद्याधर सहित मंच पर पधारे। सम्पूर्ण सभा स्थल तीर्थंकरों एवं मुनि ज्ञानसागरजी की जयघोष से गूँज उठा। युवा ब्रह्मचारी विद्याधर ने मुनि ज्ञानसागरजी की चरण वन्दना की, पश्चात् मुनिश्री से दिगम्बर दीक्षा प्रदान करने हेतु प्रार्थना की। मुनिश्री ने दीक्षा पूर्व जनसमूह के समक्ष अपनी भावनाएँ प्रस्तुत करने हेतु विद्याधर को निर्देश दिया।

मुनिश्री की अनुमति पाकर विद्याधर ने सिद्धम् नमः सिद्धम् नमः के पवित्र उच्चारण के पश्चात् आदि तीर्थंकर ऋषभदेव की प्रशस्ति में मंगलाचरण का उच्चारण किया पश्चात् मुनि ज्ञानसागरजी के चरणों में नमन अर्पित कर जन समूह को सम्बोधन किया।

''आज मैं वन्दनीय गुरुदेव का मंगल आशीर्वाद प्राप्त कर भौतिक-सुखों को अन्तिम प्रणाम कर रहा हूँ। युगादि में आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव ने सर्वप्रथम मुक्ति का मार्ग प्रशस्त किया था। वे ही सर्वप्रथम निर्ग्रन्थ-श्रमण थे। उनके द्वारा प्रशस्त मार्ग का अनुकरण कर अनगिनत भव्य जीव जन्म-मृत्यु के बंधनों से विमुक्त होकर अतीन्द्रिय-सुखों को

प्राप्त कर सिद्धालय में विराजमान हैं। जन्म के साथ मृत्यु और संयोग के साथ वियोग जुड़ा हुआ है। इस विशाल विश्व में प्रत्येक प्राणी अपने कर्मों को भोगने के लिए आता है, आयु कर्म समाप्त होने पर नवीन किन्तु अज्ञात-गति में गमन कर जाता है। सर्व परिग्रहों का त्याग किये बिना मुक्ति एक कल्पना है। बिना दिगम्बरत्व, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चरित्र की उपलब्धि असम्भव है। आज मैं मुक्ति के महान् एवं दिव्य पथ का पथिक बनने जा रहा हूँ। मेरी साधना सार्थक हो, मैं आदि तीर्थंकर ऋषभदेव और पूज्य गुरुदेव की शरण स्वीकार करता हूँ। मैं मुनिश्री पूज्य ज्ञानसागरजी से करबद्ध प्रार्थना करता हूँ कि मुझे निर्ग्रन्थ-श्रमण की दीक्षा प्रदान करें।

युवा विद्याधर अपना अभिप्राय निवेदन कर मंच पर अपने स्थान पर बैठा उस समय उनके शीश पर श्यामल केश लहरा रहे थे। दाढ़ी बड़ी हुई थी। दीक्षा दिवस को निर्जला उपवास था। दीक्षा पूर्व केशलोंच करना अनिवार्य है। मुनिश्री का संकेत पाकर विद्याधर ने सिद्धम् नमः सिद्धम् नमः कहकर केशलोंच प्रारम्भ किया। केशलोंच करने में उनके शीश एवं कपोलों पर रक्त बिन्दु झलक आये, किन्तु वे देह के प्रति अनासक्त थे। उनके अधरों पर एक सहज और तृप्ति भरी मुस्कान देखी जा सकती थी। पच्चीस हजार के लगभग जन समूह उपस्थित था, किन्तु दीक्षा स्थल पर निस्तब्धता व्याप्त थी। आश्चर्य में डूबे दर्शक सोच रहे थे, ''क्या कोई अपनी देह के प्रति इतना निर्मम और निरासक्त हो सकता है।'' केशलोंच के समय विद्याधर का श्वेत मुखमंडल रक्ताभ हो उठा देह पसीने से नहा गई, पर वह प्रसन्नता और परम तृप्ति का अनुभव कर रहे थे। बाल्यकाल में आचार्य शांतिसागरजी का प्रवचन सुनकर जो सपना संजोया वह साकार होने जा रहा था।

मंत्र मंगलाचरण के साथ श्रमण दीक्षा सम्पन्न हुई। नवदीक्षित श्रमण, निर्ग्रन्थ, दिगम्बर, निर्भय, निर्मल समभाव से पच्चीस हजार के जनसमूह के सामने सद्य शिशु के समान दिख रहे थे। मुनि ज्ञानसागरजी ने नवदीक्षित-श्रमण को शुचिता-संयम हेतु पिच्छिका-कमंडलु उपकरण प्रदान किये। नवदीक्षित-श्रमण ने मुनिश्री की वन्दना की। मुनिश्री ने देखा नवदीक्षित-

श्रमण अतीन्द्रिय सुखों की अनुभूति में डूबा हुआ है, यह जानकर उन्होंने भी प्रतिवन्दना की। दीक्षा के समय अत्यधिक गर्मी थी। सहसा श्यामल-घटाएँ उठीं और निरन्तर आधे घंटे तक वर्षा होती रही। जनसमूह प्रकृति के इस अद्‌भुत कृत्य को देखता रहा और शीतलता अनुभव करता रहा। इस मंगल बेला में मुनि ज्ञानसागरजी ने अत्यन्त मार्मिक शब्दों में कहा–

''धर्म प्रेमी बन्धुओ! तुम देख रहे हो मेरी देह प्रतिक्षण क्षीण हो रही है, मैं समय की निःशब्द पदचाप निरन्तर सुन रहा हूँ। ज्ञान और अनुभूति के संगम पर बैठा हुआ विचार कर रहा था कि आगम-श्रुत-साहित्य की धरोहर किसे सौंपूँ? क्या अधूरी साध लिए संसार से प्रयाण करना पड़ेगा? किन्तु माँ जिनवाणी अत्यन्त उदार है, मेरी भावनाओं को मूर्त रूप देने के लिए असीम अनुकम्पा कर विद्याधर को भेज दिया। मैं नवदीक्षित-श्रमण की साधना और ज्ञानाराधना से अत्यन्त संतुष्ट हूँ। आज से नवदीक्षित-श्रमण का नाम मुनि विद्यासागर होगा।''

नवदीक्षित श्रमण का नाम सुनकर दीक्षा स्थल मुनिश्री ज्ञानसागरजी और श्रमण विद्यासागरजी की जयघोष से गूंज उठा पश्चात् मुनिश्री ने कहा ''हृदय में शंकाएँ हों तो उनका परित्याग कर दीजिए, मैं आज अन्तर्मन से घोषणा करता हूँ कि युवा श्रमण विद्यासागर श्रमण संस्कृति का नया इतिहास लिखेंगे।''

''कीर्ति नाम की कन्या सदैव से कुंवारी है, वह इसके पीछे-पीछे दौड़ेगी, किन्तु यह शाश्वत-सुखों का अभिलाषी उनकी ओर मुड़कर देखेगा भी नहीं। श्रमण-संस्कृति विद्यासागर की साधना से निरन्तर उपकृत होगी। मैं जीवन की संध्या में निर्ग्रन्थ-बाल-सूर्य को उदित होते देख रहा हूँ आप सभी भाग्यशाली हैं, दिनकर की पूर्ण आभा को देखोगे। सभी की धर्म में आस्था हो, श्रमण विद्यासागर की साधना जयवंत हो। सभी मेरा मंगल आशीर्वाद स्वीकारें, सिद्धम् नमः।''

कार्यक्रम के समापन पर अजमेर निवासी श्री हुकुमचन्द लुहाड़िया
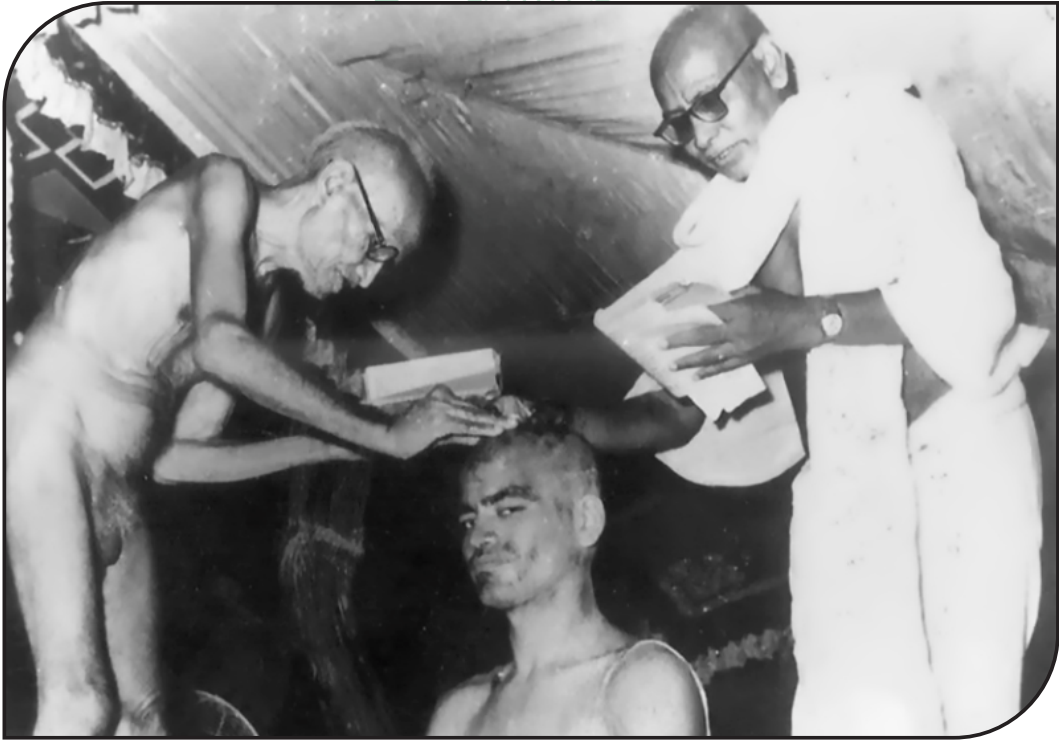
ब्रह्मचारी विद्याधर को मुनि ज्ञानसागरजी द्वारा मुनि दीक्षा

और उनकी धर्मपत्नी श्री जतनकुमारी को मुनिश्री ने आशीर्वाद दिया। दोनों ने आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत लेकर नवदीक्षित-श्रमण विद्यासागरजी के माता-पिता बनने का अनुपम आदर्श प्रस्तुत किया।

मुनि ज्ञानसागरजी नवदीक्षित श्रमण विद्यासागर एवं संघस्थ साधक सभा स्थल से लौट रहे थे। पीछे सर सेठ भागचन्दजी, मूलचन्दजी लुहाड़िया, कजौड़ीमल, प्राचार्य निहालचन्दजी सहित जनसमूह जयघोष करता चल रहा था। अजमेर निवासियों ने ऐसा भव्य और दिव्य-कार्यक्रम अपने जीवन में प्रथम बार देखा।

मल्लप्पा परिवार महावीर के लौटने की आतुरता से प्रतीक्षा कर रहा था। सदलगा निवासी भी विद्यासागरजी की दीक्षा वृत्तान्त सुनने आतुर थे। महावीर ने लौटकर जब दीक्षा-वृत्तान्त सुनाया तो सभी रोमांचित हो उठे। महावीर ने विद्यासागर की दीक्षा सम्बन्धी चित्र दिखाये, तो सभी के नयनों में प्रसन्नता के अश्रु छलक आए। सदलगा निवासी कहते कि सदलगा का नाम भारतीय-संस्कृति के इतिहास में सदैव स्मरण किया जावेगा। मल्लप्पा एवं श्रीमंतीजी की मन:स्थिति विचित्र थी। सुख-दुख की समन्वित अनुभूति के क्षण, विरलों को ही प्राप्त होते हैं। वे सोचते उनका पुत्र मुक्ति के मार्ग का पथिक बन गया। साधु परमेष्ठी की श्रेणी में पहुँच कर कोटि-कोटि जनों का वंदनीय बन गया, यह सोचकर प्रसन्नता का अनुभव करते किन्तु वह कभी घर नहीं लौटेगा। यह सोचकर उनका मन पीड़ा से भर जाता। मल्लप्पाजी कहते हम जीवनपर्यन्त शास्त्रों का अध्ययन करते रहे। अनित्य-भावना पढ़ते रहे, अनेक विरक्ति मूल पद स्मृति का अंग बने हुए हैं, किन्तु ज्ञान का उपयोग न कर सके। अनन्तनाथ, शांतिनाथ, शांता एवं सुवर्णा को किशोरवय में अपने बड़े भैया से बिछुड़ने का अवसाद था। कभी माता-पिता के सामने कभी एकांत में रोते! भैया मुनि महाराज बन गये इससे क्या होगा? मुनि बन कर वे क्या पाना चाहते हैं? घर क्यों नहीं लौटेंगे? उनकी समझ में कुछ नहीं आ रहा था। सम्पूर्ण परिवार के मन में परिवर्तन की तरंगें उठ रहीं थी और वे गृहस्थ और संन्यस्त-जीवन के सन्दर्भ में पृथक्-पृथक्

दृष्टिकोणों से चिन्तन कर रहे थे। जीवन की सतह पर आँसू थे, उच्छ्वासें थीं, बिछुड़ने का दुःख था पर किसे पता था चिन्तन की ये धाराएँ, विरक्ति के महासमुद्र में समाहित होने व्याकुल हैं।

मुनिश्री ज्ञानसागरजी अपने शिष्य विद्यासागर के साथ चर्चा में व्यस्त हैं। विद्यासागर विलक्षण प्रतिभावान संत हैं। ज्ञान के प्रति उनकी जिजीविषा अद्भुत है। चार वर्षों के निरन्तर श्रम और मुनिश्री के सान्निध्य में उनकी प्रतिभा में अद्भुत निखार आया। विद्यासागरजी जैन-दर्शन के गूढ़तम रहस्यों को समझने में अनुभूत एवं सक्षम थे। इसलिए गुरु-शिष्य एकांत में दार्शनिक चर्चा करते। गुरु ज्ञानसागरजी प्रश्न करते और विद्यासागरजी उसका समाधान प्रस्तुत करते। जब श्रमण विद्यासागरजी प्रश्न करते तो गुरुदेव समाधान प्रस्तुत करते। कठिन से कठिन विषय भी चर्चा से सरल हो जाता है।

मुनिश्री ज्ञानसागरजी ने आचार्य कुन्दकुन्द की अमर कृति 'समयसार' आचार्य अमृतचन्द्र की संस्कृत-टीका और समयसार पर आचार्य जयसेन कृत टीकाओं का दार्शनिक रहस्य समझाया था। जयसेन की समयसार पर संस्कृत-टीका का उन्होंने स्वयं हिन्दी अनुवाद किया था। मुनि ज्ञानसागरजी ने कहा-''वत्स! आचार्य कुन्दकुन्द की अमर कृति और उसकी टीकाओं के माध्यम से मैंने तुम्हें शाश्वत दर्शन के गूढ़तम रहस्यों से परिचित कराने का प्रयत्न किया है, उसे कम से कम शब्दों में अभिव्यक्त करो।''

विद्यासागर—गुरुदेव! ''**निर्ग्रन्थ हुए बिना समयसार का निरूपण तो सम्भव है किन्तु साक्षात् निरीक्षण तो आकाश कुसुमवत् ही है। पंचेन्द्रिय के विषय-कषायों में रच पचने वाले विषय-कषायी पुरुषों को शिरोगम तो हो सकता है किन्तु हृदयंगम कदापि नहीं। समयसार का पाचन उतना सुगम नहीं जितना कि वाचन, भाषण, संभाषण। वस्तुतः समयसार बहिर्वस्तु नहीं, जिसके ऊपर अपनी सत्ता बलवत्ता जमा सके। वह तो आंतरिक आत्मोत्थान शुद्ध परिणति सहज घटना है। दिगम्बर-मुनि भी ऐसा न समझें कि हमने सब**

परिग्रह का त्याग तो कर लिया है तिल-तुष मात्र परिग्रह नहीं रखते। अत: हमने साक्षात्कार कर लिया अथवा नियम से कर ही लेंगे। समयसार की अनुभूति के लिए मात्र दिगम्बरत्व पर्याप्त नहीं। दिगम्बरत्व के उपरांत भी दिगम्बरत्व की विस्मृति नितांत आवश्यक है। परिधि में अटकी चेतना को केन्द्र की ओर प्रवाहित करना होगा जिससे चेतना में स्थिरता उद्भूत होगी जिसमें समयसार का नियमरूपेण दर्शन होगा।''

''समयसार की अनुभूति के लिए दिगम्बरत्व पर्याप्त नहीं, दिगम्बरत्व के पश्चात् उसकी विस्मृति नितांत आवश्यक है। परिधि में अटकी हुई चैतन्य धारा को केन्द्र की ओर प्रवाहित करना होगा'' ये शब्द मुनि ज्ञानसागरजी के कर्ण कुहरों में बार-बार गूँज रहे थे। विद्यासागरजी की दार्शनिक चर्चा सुनकर उनके हृदय में एक नवीन विचार ने जन्म लिया और बोले-''वत्स। देह की चादर जीर्ण हो गई है, आत्मसाधना में व्यवधान उपस्थित कर रही है। अब समग्र चेतना आत्मसाधना की ओर केन्द्रित करना चाहता हूँ।''

श्रमण विद्यासागर-''गुरुदेव! आपका सम्पूर्ण समय आत्मसाधना में बीत रहा है। आगम का अथाह ज्ञान आपकी प्रज्ञा में समाहित है। आपकी सम्पूर्ण चर्या अनगार चर्या के अनुकूल है। आप अपनी शक्ति से अधिक श्रम करते हैं। मैं आपका मंतव्य समझने में असमर्थ हूँ।''

आचार्य ज्ञानसागरजी-''वत्स! मेरी वृद्ध एवं जीर्ण-शक्ति-हीन काया आचार्यत्व का दायित्व उठाने में असमर्थ है। आचार्य पद भी परिग्रह है। सल्लेखना पूर्व आचार्य पद का परित्याग करना अनिवार्य होता है। कुछ दिनों पश्चात् जिसे छोड़ना अनिवार्य हो, उसे क्यों न स्वेच्छा से परित्याग कर दिया जाये?''

श्रमण विद्यासागर-''गुरुदेव! श्रमण संस्कृति में अरिहन्त, सिद्ध परमेष्ठी के पश्चात् आचार्य पद ही सबसे पवित्र और महिमा मंडित पद है। आप श्रमण-संस्कृति के प्रत्यक्ष परमेष्ठी हैं। यह पद सब प्रकार से आपकी

प्रतिष्ठा के अनुकूल है। पद परित्याग करने का विचार आपके मन में क्यों उत्पन्न हुआ?''

आचार्य ज्ञानसागरजी—''पद परिग्रह भी एक प्रकार की सूक्ष्म मूर्च्छा है। अर्हत् महावीर का सन्देश है कि आचार्यत्व की अनिवार्यता समाप्त होने पर आचार्य पद तत्काल छोड़ देना चाहिए। मैं समाधिमरण के पूर्व निर्विकल्प होना चाहता हूँ।''

श्रमण विद्यासागर—''आपका अभिप्राय वास्तविक है, आगम अनुकूल है किन्तु आपकी देह इतनी क्षीण नहीं हुई है कि आचार्यत्व का दायित्व न उठा सके।''

आचार्य ज्ञानसागर—''वत्स! मैं अपनी देह के सम्बन्ध में तुझसे अधिक जानता हूँ। निश्चित तो नहीं किन्तु मुझे अनुमान है कि साँसों का पंछी कब उड़ेगा। जीर्ण होने पर पत्ते वृक्ष से बिना आहट किये टूट कर गिर जाते हैं। वृक्ष के अतिरिक्त उनके टूटने की आहट कोई नहीं सुन पाता।''

श्रमण विद्यासागर—''गुरुदेव! आपके प्रज्ञा दर्पण में क्या प्रतिबिम्बित हो रहा है इसका तो मुझे बोध नहीं पर आप मेरे गुरु एवं आचार्य जीवन पर्यन्त रहेंगे।''

आचार्य ज्ञानसागर—''वत्स! आचार्य पद कोई शाश्वत पद नहीं है। आज जो श्रमण है वह कल आचार्य हो सकता है। परिस्थितियाँ प्रतिकूल हों तो आचार्य को भी अपने शिष्य के आचार्यत्व में धर्म साधना करना पड़ सकती है।''

श्रमण विद्यासागर—''गुरुदेव! ये अपवाद और विषम स्थितियाँ हैं। मेरी दृष्टि में श्रमण संस्कृति के इतिहास में ऐसा कोई उल्लेख नहीं आया कि किसी आचार्य को अपना पद परित्याग कर अपने ही शिष्य के आचार्यत्व में धर्म साधना करनी पड़ी हो।''

आचार्य ज्ञानसागर—''वत्स! इतिहास की प्रक्रिया गतिशील होती है इतिहास का सृजन कभी रुकता नहीं है और मैं नये इतिहास का सृजन करना चाहता हूँ।''

श्रमण विद्यासागर विचारों की असीम गहराई में डूब गये और सोचने लगे कहीं गुरुदेव अपना आचार्य पद मुझे तो नहीं देना चाहते। यह मात्र उनका विचार था उनका अन्तःकरण निर्णायक उत्तर देने में असमर्थ था। वह चाहते थे कि यह चर्चा यही समाप्त हो जाये।

आचार्य ज्ञानसागर– ''वत्स! मेरे प्रश्न का उत्तर नहीं दिया।

श्रमण विद्यासागर–''प्रश्न है कहाँ? यह तो एक विचार मात्र है, जो आपकी चेतना में उत्पन्न हुआ है और आप इस विचार का परित्याग कर दीजिए।''

आचार्य ज्ञानसागर–''विद्या! तेरी दृष्टि में यह एक विचार होगा मेरे लिए तो यह संकल्प का रूप धारण कर चुका है और संकल्प छोड़ने का कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।''

श्रमण विद्यासागर–''दिगम्बर श्रमणों का निर्ग्रंथों का संकल्प यम समाधि की भाँति अटल होता है। आपका संकल्प साकार हो, मैं आदि तीर्थंकर ऋषभदेव भगवान से कामना करता हूँ।''

आचार्य ज्ञानसागर– ''वत्स। मेरे संकल्प की पुष्टि करने से मेरा संकल्प पूरा नहीं होगा उसे साकारता प्रदान कर।''

श्रमण विद्यासागर–''गुरुदेव आपका आचार्य पद लेना किसी भी श्रमण को गौरव और सौभाग्य का सूचक होगा। आप जिसे भी आचार्य पद प्रदान करेंगे, मैं उसकी आज्ञा में धर्म साधना करने प्रतिज्ञाबद्ध हूँ।''

श्रमण ज्ञानसागर–''वत्स। मैं अपने ज्ञान और साधना का प्रतिबिम्ब मात्र तुझमें देखता हूँ। ज्ञान और विद्या में अन्तर नहीं है। मैं तुझे अपना आचार्य पद सौंपकर निश्चिन्त होकर आत्म-साधना करना चाहता हूँ।''

विद्यासागर आश्चर्यचकित होकर गुरुदेव की तरफ देखने लगे। अपलक देखते रहे। वह दुविधा में थे क्या उत्तर दें? उन्होंने अत्यन्त विनम्र शब्दों में उत्तर दिया– ''गुरुदेव! आपके श्री चरणों में बैठकर आत्म-ज्ञान की वर्णमाला के अक्षर सीखे हैं। एक अनगढ़-प्रस्तर में जैसे कोई कुशल-शिल्पी आराधना योग्य प्रतिमा गढ़ता है उसी भाँति आपने मेरे जीवन को

सार्थकता प्रदान की है। आपका निर्णय सुनकर मैं चेतना शून्य हुआ जा रहा हूँ। मेरा स्थान मात्र आपके श्री चरणों में है। देव क्षमा करें। इतना कहकर मौन हो गये।''

आचार्य ज्ञानसागर–''वत्स। निर्ग्रन्थ श्रमणों की साधना का चरम उत्कर्ष है समाधिमरण। मैं अपने गंतव्य की ओर बढ़ रहा हूँ। मेरी साधना में व्यवधान उपस्थित न कर। आचार्य पद स्वीकार कर ले।''

विद्यासागर किंकर्तव्यविमूढ़ हो गए। उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया। आचार्यश्री के सम्बोधन करने पर भी मौन रहे।

आचार्य ज्ञानसागरजी ने इस सन्दर्भ में कोई चर्चा नहीं की वह सोचते रहे विद्यासागर को आचार्य पद स्वीकार करने किस प्रकार तैयार किया जाये।

एक दिन आचार्य ज्ञानसागरजी करणानुयोग का क्लिष्टतम ग्रन्थ षट्खण्डागम में कर्म प्रकृतियों को समझा रहे थे। विद्यासागर तन्मयता से आचार्यश्री का अभिप्राय समझ रहे थे। ज्ञानसागरजी ने पढ़ाते समय पूछा– '' वत्स! विद्यासागर शिक्षा प्राप्त करते हुए कितना समय बीत गया।'' विद्यासागर ने कहा–''गुरुदेव! लगभग पाँच वर्ष बीत गए।'' आचार्य ज्ञानसागरजी के अधरों पर मन्द हास्य उतर आया फिर मृदु स्वर मैं बोले– ''क्या गुरु दक्षिणा भी नहीं देगा?''

श्रमण विद्यासागर– गुरुदेव! मैं आपके द्वारा दीक्षित निर्ग्रंथ-श्रमण हूँ। इस अकिंचन के पास शेष ही क्या है! जिसे आप गुरु दक्षिणा में चाहते हैं। गुरु दक्षिणा तो मैं अपने प्राण न्यौछावर कर भी नहीं चुका सकता।

आचार्य ज्ञानसागर– ''वत्स! अमूल्य निधि है तेरे पास। क्या गुरु दक्षिणा देने वचनबद्ध नहीं होना चाहता ?''

श्रमण विद्यासागर–''गुरुदेव! मैं आपका शाश्वत ऋणी हूँ पर ज्ञान-दान का कोई प्रतिदान नहीं होता। देव! गुरु दक्षिणा देना मात्र लोक व्यवहार है। अमूल्य का मूल्य कैसे सम्भव हो सकता है?''

आचार्य ज्ञानसागर– ''यह तेरा विषय नहीं है विद्या! गुरु जिसे लेकर संतुष्ट हो वही उसका मूल्य है।''

श्रमण विद्यासागर –''आज्ञा दीजिए गुरुदेव!''

आचार्य ज्ञानसागर–''वत्स! आचार्य पद स्वीकार कर ले और मुझे अपना शिष्यत्व प्रदान कर। मैं तेरे आचार्यत्व में महाप्रयाण करना चाहता हूँ।''

लाभ-हानि, जीवन-मरण, यश-अपयश में समभाव रखने वाले श्रमण के नयन भी आर्द्र हो गए। विद्यासागर की स्मृति सुदूर अतीत में विचरण करने लगी जब वह आचार्यश्री के प्रथम बार सान्निध्य में आये थे और तब आचार्यश्री ने कहा था-विद्यानन्दि बना दूँगा। विद्यानन्दि न्याय एवं दर्शन-शास्त्र के उद्‌भट विद्वान् और आचार्य थे। गुरुदेव उसी आशीर्वाद को साकारता प्रदान कर रहे हैं। मेरी अन्तर आत्मा इस पद को किंचित भी स्वीकार करने तैयार नहीं है किन्तु गुरुदेव के तर्क के सम्मुख कर्तव्यविमूढ़ और विवश हूँ।''

आचार्य ज्ञानसागर–''क्या सोच रहा है?''

श्रमण विद्यासागर– ''मैं अनुभव हीन युवा श्रमण हूँ। आपके आचार्य पद की प्रतिष्ठा की रक्षा कैसे कर सकूँगा? गुरुदेव। अपने निर्णय में परिवर्तन कीजिए।''

आचार्य ज्ञानसागर–''वत्स विद्यासागर। निर्भय हो मेरा मंगल आशीर्वाद तेरे साथ है। समय स्वयं साक्षी देगा, मेरा मंगल आशीर्वाद और अरिहन्तों की अनुकम्पा सदैव तेरा मार्ग प्रशस्त करेगी। विद्यासागर ने गुरुदेव के श्री चरणों में भाव-विभोर होकर शीश रख दिया। श्रमण संस्कृति के इतिहास में ऐसा दुर्लभ अमृतपूर्ण क्षण कब आयेगा, कौन जाने?''

मगसिर कृष्ण २, संवत् २०२९ तदनुसार २२ नवम्बर, १९७२ को नसीराबाद में आचार्य ज्ञानसागरजी अपना आचार्य पद युवा श्रमण विद्यासागरजी को प्रदान करेंगे। नसीराबाद (राजस्थान) में की गई यह घोषणा बिना प्रचार के सम्पूर्ण देश में प्रसारित हो गई। आचार्य पदारोहण

मुनि विद्यासागरजी का आचार्य पदारोहण

दिवस को विशाल जनसमूह विस्मयकारी उत्सव देखने के लिए उपस्थित था। आचार्य आसन पर आचार्य ज्ञानसागरजी विराजमान हैं। समीप ही काष्ठ आसन पर श्रमण विद्यासागर जी विराजमान हैं। आचार्य पद से आचार्य ज्ञानसागरजी अपना अन्तिम उपदेश देने वाले हैं। जन समूह में निस्तब्धता व्याप्त है, सभी आचार्यश्री का मंगल प्रवचन सुनने आतुर हैं।

अरिहन्त प्रभु का पावन स्मरण कर आचार्यश्री ने मंगल प्रवचन प्रारम्भ किया। लगा जैसे कि उनकी वाणी से स्नेह और करुणा की अजस्र धाराएँ प्रवाहमान हो उठी हों।

आचार्यश्री ने कहा—''पथिक को सराय छोड़ते हुए, पतझड़ में पत्तों को वृक्ष छोड़ते हुए, जिस प्रकार किंचित भी विपरीत अनुभूति नहीं होती वैसे ही निरपेक्ष-भाव से मैं आचार्य पद का परित्याग कर रहा हूँ। दीपक के बुझने के पूर्व ही, उसकी ज्योति का उपयोग कर लेना ही प्रज्ञा का कौशल है। मृत्युंजयता मृत्यु के बाद प्राप्त नहीं की जा सकती। मैं अपनी साधना को सार्थकता प्रदान करने निराकुल-भाव से आचार्य पद का त्याग कर रहा हूँ।''

''श्रमण विद्यासागर मेरी और श्रमण संस्कृति की आशा के केन्द्रबिन्दु हैं। उनके साधनामय जीवन में मैं श्रमण-संस्कृति का उज्ज्वल भविष्य देख रहा हूँ। उनमें ज्ञान और विद्या का अद्भुत संगम है। संघ उनके आचार्यत्व में आगम अनुकूल चर्या में प्रवृत्त होकर साधना करता रहेगा ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है।''

''श्रमण संस्कृति पुरुषार्थमूलक संस्कृति है। मनुष्य अपने कर्मों के अनुसार भाग्य निर्माण करने के लिए स्वतंत्र है। आत्म विकास का चरम उत्कर्ष ही परमात्म तत्त्व है, माँ जिनवाणी उस चरम उत्कर्ष को प्राप्त करने मार्ग प्रशस्त करती है। संसारी-प्राणी भौतिक-वस्तुओं की शोध और उनका परिज्ञान करने में ही जीवन व्यर्थ गंवा देता है। आत्म ज्ञान जो शाश्वत है, ध्रुव है, परम ब्रह्म है, उसका चिन्तन करने उसके पास अल्प समय भी नहीं है। मानव जाति का इससे बड़ा दुर्भाग्य क्या हो सकता है। जन्म-मरण दो

विरोधी आयाम होकर भी सत्य है। निर्ग्रन्थ श्रमणों की जीवन पर्यन्त की साधना का लक्ष्य होता है, समाधिमरण। आत्मकल्याण में ही लोककल्याण निहित है। प्राणी मात्र सुखी हो, यही मेरी मंगल भावना है। नवोदित आचार्य जयवंत हों। उनके आचार्यत्व में श्रमण संघ आत्मकल्याण करें, यही मेरी मंगल भावना है। मेरा आशीर्वाद स्वीकारें।''

प्रवचन के पश्चात् आचार्य ज्ञानसागरजी, आचार्य आसन पर विराजे। मंत्र मंगलाचरण के मध्य आचार्य पद दीक्षा समारोह प्रारम्भ हुआ। सम्पूर्ण वातावरण आचार्य ज्ञानसागरजी और विद्यासागरजी की जयघोष से निनादित हो उठा। आचार्य ज्ञानसागरजी ने अपने पिच्छिका-कमण्डलु विद्यासागरजी को प्रदान किये। आचार्य पद प्राप्त करने के पश्चात् आचार्य विद्यासागरजी अपने पूर्व स्थान पर बैठने लगे आचार्य ज्ञानसागरजी ने कहा ''वत्स! रुको और आचार्य आसन की ओर संकेत करते हुए बोले वत्स! विद्यासागर! क्या आचार्य आसन रिक्त रहेगा? मैं अपना पद परित्याग कर चुका हूँ, वत्स! यथास्थान बैठो।'' और स्वयं ने विद्यासागरजी को आचार्य आसन पर बैठाया और मुनि ज्ञानसागरजी, विद्यासागर जी के स्थान पर जाकर बैठ गये।

जनसमूह स्तब्ध रह गया। उनने अपने जीवन में ऐसा दृश्य कभी नहीं देखा था। यह गुरु की शिष्य के प्रति अनुराग की पराकाष्ठा थी।

आचार्य विद्यासागरजी गंभीर मुद्रा में आचार्य आसन पर विराजमान थे। उनके हृदय में तरंगित-भावनाओं को अभिव्यक्त करना कल्पनातिरेक था। कुछ क्षण पश्चात् मुनि ज्ञानसागरजी उठे और आचार्य विद्यासागरजी को नमन कर बोले – ''हे आचार्यश्री! मैं आपके आचार्यत्व में सल्लेखना लेना चाहता हूँ। मुझे समाधिमरण की अनुमति प्रदान कीजिए।''

मुनि ज्ञानसागरजी द्वारा समाधिमरण की भावना व्यक्त करने पर उपस्थित विद्वानों श्रेष्ठी, साधकों की आँखों में अश्रु छलक आए।

आचार्य विद्यासागरजी ने आचार्य-पद पर प्रतिष्ठित होते ही ऐसा विषम क्षण उपस्थित होगा, इसकी कल्पना भी नहीं की थी। गुरुदेव की

वाणी सुनकर विस्मित थे, किन्तु उनका हृदय करुणा विगलित हो उठा। गुरुदेव के उपकारों का स्मरण कर वह श्रद्धा–विनत हो उठे। समाधिमरण का निर्णय गुरुदेव पर छोड़ने की भावना हुई किन्तु गुरुदेव के विछोह की कल्पना मात्र से वह द्रवित हो उठे और तत्काल उन्होंने कहा–''समाधिमरण निर्ग्रन्थों की नियति है, उनकी साधना का चरम उत्कर्ष है, समय की प्रतीक्षा करो।''

कार्यक्रम के समापन पूर्व नवोदित आचार्यश्री विद्यासागरजी का मंगल प्रवचन हुआ–

''युगादि के प्रथम श्रमण ऋषभदेव थे, जिन्होंने दीर्घ साधना द्वारा प्रथम तीर्थंकर होने का श्रेय प्राप्त किया। आदि तीर्थंकर ऋषभदेव से वर्तमान काल तक यह परम्परा अविछिन्न रूप से चली आ रही है। जैन आचार्यों के सन्दर्भ में श्रुत साहित्य में उपलब्ध है, जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य इन पाँच आचारों का स्वयं पालन करते हैं और संघस्थ श्रमणों से कराते हैं, वह आचार्य कहलाते हैं। आचार्य ज्ञानसागरजी का व्यक्तित्व इस कसौटी पर देखें, तो वह शुद्ध स्वर्ण के समान दृष्टिगोचर होता है। श्रमण–संस्कृति के इस महिमा मंडित पद के वे श्रेष्ठ आचार्य हैं किन्तु उन्होंने मुझ जैसे युवा श्रमण को यह महापद प्रदान कर श्रमण–संस्कृति के इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ा है। मैं उनके श्री चरणों में कोटि नमन अर्पित करता हूँ, उनका उपकार मानता हूँ। मैं पूज्य आचार्यश्री के निर्देशन में आचार्यत्व का दायित्व निर्वाह करने में गतिशील रहूँगा। संघ की प्रगति, प्रतिष्ठा, अनगार धर्म के अनुपालन में है। संघ के सभी सदस्य अपनी निर्दोष चर्या से, संघ की प्रतिष्ठा बढ़ायेंगे मुझे विश्वास है। राग–द्वेष और मोह, श्रमणों और साधकों के परम शत्रु हैं, सभी श्रमण इन विकृतियों को समीप नहीं आने देंगे, मैं आस्थावान हूँ। ''**परस्परोपग्रहो जीवानाम्**'' मंगल सूत्र का स्मरण करते हुए पूज्य आचार्य ज्ञानसागरजी का संघ लोककल्याण और आत्मकल्याण के पथ पर गतिशील रहेगा। सिद्धम् नमः।''

अंशुमाली दिवस भर की थकान भरी यात्रा से लौटकर अस्ताचल की ओर यात्रा कर रहा था। निशा रानी उसके आगमन की प्रतीक्षा कर रही थी। पश्चिम के क्षितिज छोर पर अद्‌भुत लालिमा थी। दीपक के बुझने के पूर्व जैसे दीपक की ज्योति बढ़ जाती है वैसे ही अस्ताचल अरुण आभा से दैदीप्यमान हो उठा था। सांध्य बेला में पक्षियों के घोसलों में कलरव गान था। प्रकृति निस्तब्ध होती जा रही थी। नीड़ों में लौटते हुए पक्षियों का कलरव, मधुर संगीत का सृजन कर रहा था। यह सूर्य के डूबने और निशा के आगमन का सन्देश था।

सांध्यकाल में नसीराबाद के जिन देवालय में आचार्य विद्यासागर एवं श्रमण ज्ञानसागर जी मौन बैठे हैं।

श्रमण ज्ञानसागर– ''विद्यासागरजी! देखिये पक्षी तक नीड़ों में लौट रहे हैं मुझे भी निजघर लौटने की अनुमति दीजिए।''

आचार्य विद्यासागरजी ने श्रमण ज्ञानसागरजी के नेत्रों में झाँककर देखा। एक तृप्ति भरी मुस्कान उनकी आँखों में और मन्द-हास्य उनके अधरों पर बिखरा हुआ था। जैसे जीवन भर के किसी अनछुए विचार ने उनकी मानसिक-चेतना को गतिशील किया हो। आचार्य विद्यासागर अपलक उनके नयनों में झाँकते रहे। श्रमण ज्ञानसागर नहीं अपितु वात्सल्य मूर्ति अपने ज्ञान और दीक्षा गुरु आचार्य ज्ञानसागरजी के दर्शन हो रहे थे। सहसा उनके मुख से निकला,''गुरुदेव! सभी श्रमण निज घर लौटने की यात्रा कर रहे हैं आप अकेले कहाँ जाना चाहते हैं?''

ज्ञानसागर– ''वत्स! तू सत्य कह रहा है। सभी श्रमण निज घर लौटने की यात्रा में व्यस्त है किन्तु उनमें से किसी ने यात्रा का शुभारम्भ किया है, कोई मध्य तक चल आया है, किन्तु मैं तो आयु के गंतव्य के निकट खड़ा हूँ।''

आचार्य विद्यासागर–''आध्यात्मिक-यात्रा में गंतव्य स्वयं पास आ जाता है, कहीं जाने की आवश्यकता नहीं। स्वयं में स्वयं को खोजने का नाम ही आध्यात्मिक यात्रा है।''

ज्ञानसागर–''वत्स! आध्यात्मिक–यात्रा हो या लौकिक–यात्रा देह तो अपना धर्म निभाती है। सूर्य भी डूबने के समय रुकता नहीं डूब जाता है।''

आचार्य विद्यासागर– ''आयु कर्म के क्षय होने को ही मरण की संज्ञा प्राप्त है। आत्मा तो शाश्वत है, अविनाशी है।''

ज्ञानसागर–''और मैं आयु कर्म के समाप्त होने की आहट और मृत्यु की पदचाप स्पष्ट सुन रहा हूँ। देखता नहीं, मेरी देह कितनी शिथिल हो गई है?''

आचार्य विद्यासागर–''पर गुरुदेव! आयु कर्म शेष है तो देही की क्या विसात है कि वह किसी अन्य योनि में गमन कर जाये।''

ज्ञानसागर–''मैं मरण नहीं समाधिमरण की बात कर रहा हूँ। मरण और समाधिमरण मरण होकर भी दो विरोधी आयाम हैं। जब शरीर आर्त–रौद्रध्यान में निरूपाय होकर आत्मा को छोड़ने को विवश हो जाए उसे मरण कहते हैं और देह–आत्मा को निराकुल भाव से ऊर्ध्वगमन करने हेतु मुक्त कर देती है उसे समाधिमरण कहते हैं। वत्स! मैं समाधिमरण लेना चाहता हूँ।''

आचार्य विद्यासागर गुरुदेव के विछोह की कल्पना से सिहर उठे। आचार्य थे बाहर से शांत थे, पर भावात्मक रूप से आँसुओं से नहा उठे। उनकी वाणी आर्द्र हो उठी। संसार की नश्वरता का उन्हें पूर्णज्ञान था किन्तु गुरुदेव जिन्होंने अपने ज्ञान का विशाल–सागर इस लघु विद्यासागर में जिस कौशल से भरा था, उसकी अनुभूति का स्मरण कर आचार्य विद्यासागर विह्वल हो सिहर उठे।

विद्यासागर –'गुरुदेव!'

श्रमण ज्ञानसागर–''आचार्य विद्यासागर! मैं आपके चरणों में सल्लेखना धारण करना चाहता हूँ अतः अपने संघ में प्रवेश देने और सल्लेखना पूर्व समाधिमरण करने की अनुमति प्रदान करें।''

आचार्य विद्यासागर–गुरुदेव! आपने मुझे हर तरह से योग्य एवं

परिपूर्ण बनाया है, अब आप सल्लेखना धारण करने जा रहे हैं अतः उसके पूर्व मुझे अन्तिम उपदेश प्रदान करने की कृपा करें।''

श्रमण ज्ञानसागरजी– ''वत्स! तू समझ क्यों नहीं रहा? मैं अभी तक अन्तिम उपदेश ही तो दे रहा था। स्पष्ट सुन! अतीत की अपेक्षा से तू मेरा शिष्य और वर्तमान की अपेक्षा से गुरु है। स्याद्वाद, जैनदर्शन के प्राण हैं। आचरण में अहिंसा, वाणी में स्याद्वाद और विचारों में अनेकांत दिगम्बर श्रमण के आभूषण हैं। यह बात जीवनपर्यन्त स्मरण रखना। अब विलम्ब मत कर। अपना शिष्य समझ कर समाधिमरण हेतु आज्ञा प्रदान कर।''

विद्यासागर स्मृतियों के अथाह सागर में डूब गये। कुछ क्षण पश्चात् उन्होंने नयन खोले और अपने गुरुदेव को आश्वस्त किया, गुरुदेव आपका समाधिमरण अवश्य सार्थक होगा।''

❑ ❑ ❑

आचार्य विद्यासागरजी ने अपने दीक्षा गुरु श्रमण ज्ञानसागरजी को समाधिमरण लेने की अनुमति प्रदान कर दी। ज्ञानसागरजी ने विशाल जनसमूह के समक्ष आचार्य विद्यासागरजी का उपकार मानते हुए समाधिमरण व्रत स्वेच्छा से स्वीकार करने की घोषणा की, तत्पश्चात् उन्होंने सल्लेखना पर अत्यन्त मार्मिक प्रवचन किया–

''जिसने भी जन्म पाया है, जो भी पैदा हुआ है, उसे मरना अवश्य होगा, यह अटल नियम है। बड़े-बड़े वैज्ञानिक इस पर परिश्रम कर थक गये कि कोई जन्म लेता है सो तो ठीक है किन्तु मरता क्यों है? मरना नहीं चाहिए। फिर भी हमेशा जीने में सफल हुआ हो ऐसा एक भी आदमी इस भूतल पर दिखाई नहीं पड़ रहा। धनवन्तरि वैष्णवों के चौबीसवें अवतारों में एक माने गए हैं। कहा जाता है जहाँ भी वह खड़े हो जाते थे वहाँ जड़ी-बूटियाँ भी पुकार-पुकार कर कहने लगती कि मैं इस बीमारी के काम आती हूँ। मैं अमुक रोग को जड़ से उखाड़ डालती हूँ। पर एक दिन आया और धनवन्तरि इस भूतल पर से चल बसे। जड़ी-बूटियाँ यहीं पड़ी रहीं और धनवन्तरि शरीर त्याग कर चले गए। उनका औषधि-ज्ञान इस विषय में

कुछ काम नहीं आया।''

''मुसलमानों में भी लुकमान जैसे हकीम हुए हैं जो चौदह पीरों में से एक पीर कहे जाते हैं। मगर मौत उनको आकर भी लुकमा कर गई। जैसे सिंह हिरण को और बाज तीतर को धर दबाता है, वैसे ही मौत मनुष्यों को, सभी शरीरधारियों को हड़प लेती है। वह किसको अपना ग्रास बनायेगी हम तुम सरीखे नहीं जान सकते। अनेक लोग मौत से मरने के लिए टोणा, टमणा, जन्तर-मन्तर करते हैं। ताबीज बनाकर गले में बांधते हैं, फिर भी मौत अपना दाँव नहीं चूकती। समय पर आ ही दबाती है। उससे बचने के लिए शरीर धारियों के पास कोई भी चारा नहीं है। ऐसे में समझदार आदमी मौत से डरकर क्यों भागें और जायें तो कहाँ? उसके लिए जगह भी कहाँ तथा कौन-सी है, जहाँ वह बच सके? हाँ तो इसका क्या यह अर्थ है कि गले में ऊँगली डालकर मर जाना चाहिए, सो नहीं क्योंकि ऐसा करना तो नर से नारायण बना देने वाले इस मानव शरीर के साथ विद्रोह करना है। चिन्तामणि रत्न को हथौड़े की चोट से बर्बाद करना है। यह पहले दर्जे की ना समझी है। परन्तु इसमें किराये की कोठरी के समान समझते हुए रहना चाहिए। जैसे किसी को कुछ अभीष्ट करना हो और उसके पास कोई नियत स्थान न हो तो वह किराये का मकान लेकर अपने उस कार्य का साधन किया करता है, सिर्फ वहाँ पर रहकर अपने कार्य पर दृष्टि रखता है, न कि मकान का मालिक बन बैठता है। मकान तो मकानदार का है, जब भी खाली करवाना चाहे करवा सकता है। जब तक उसमें रहे, यथाशक्य झाड़-पोंछकर साफ-सुथरा करता रहे यही उसकी समझदारी है।''

''जीवात्मा ने भी भगवान का भजन कर अपना कल्याण करने को इस कुटिया को अपना स्थान बनाया है, सो इसमें रहते हुए इसके सम्मुख भले-बुरे प्रसंग उपस्थित होते रहते हैं, उनमें से बुरे को बुरा मानकर दूर भागने की चेष्टा करना और भले को भला मानकर उसके पीछे लगा रहना, इस उलझन में फँस जाना ठीक नहीं किन्तु दोनों प्रसंगों में तटस्थरूप से सुप्रसन्न होकर परम पिता का स्मरण करते रहना चाहिए। फिर यह शरीर

कुछ दिनों तक टिका रहे तो ठीक है और आज ही नष्ट हो जाए तो कोई हानि नहीं ऐसे सुप्रसिद्ध पुरुष के लिए मौत का डर नहीं रह जाता। जिस मौत का नाम सुनकर संसारी प्राणी थर-थर काँपते हैं। जन्म-मृत्यु के सन्दर्भ में जो तटस्थ रहता है, उनके लिए संसार में न कोई सम्पत्ति होती है और न विपत्ति ही, वह तो सहज तथा सच्चिदानन्द भाव को प्राप्त हो जाता है।''

मानव कर्मजयी बनकर आत्मा से परमात्मा हो जाता है फिर आगे के लिए शरीर धारण नहीं करना पड़ता। मुक्ति का मार्ग समाधि के द्वारा खुलता है। दिगम्बर-श्रमणों की साधना की यह चरम परिणति है। महाप्रयाण की पूर्व वेला में आचार्य समन्तभद्र के शब्दों में-

''अन्तक्रियाधिकरणं तपः फलं सकल-दर्शिनः स्तुवते।''

जीवनपर्यन्त किये हुए तप का फल अन्त समय में होने वाला समाधिमरण कहा है।

मुनिश्री ज्ञानसागरजी का सल्लेखना काल प्रारम्भ हुआ। प्रारम्भिक-काल में अन्न की मात्रा घटाई, तरल पदार्थ दूध और फलों का रस लेना प्रारम्भ किया। पश्चात् तरल पदार्थों को लेना बंदकर मात्र जल लेना प्रारम्भ किया, पश्चात् समस्त पदार्थों का लेना बंदकर आत्मचिन्तन में लीन हो गए। गुरुदेव के सल्लेखना काल में आचार्य विद्यासागरजी ने अपना सम्पूर्ण समय गुरु-सेवा में अर्पण कर दिया। रात्रि में गुरुदेव का शीश अपनी बांह पर रखकर लेटते अथवा चरणों के निकट सोते। उनकी दैनिक चर्या सावधानी पूर्वक कराते। दिन में चार बार उन्हें स्वाध्याय कराते। समयसार, भगवती-आराधना, अष्टपाहुड, द्वादशानुप्रेक्षा आदि ग्रंथों के अंश सुनाते। गुरुदेव अर्धउन्मीलित अथवा पलकें बन्द कर ध्यानपूर्वक सुनते।

समय बीतता गया, देह मात्र हड्डियों का ढांचा रह गई। आत्म बिहग का देहरूपी पिंजरे से उड़ने का समय आ गया। महाप्रयाण का समय जितना समीप आ रहा था, आचार्य विद्यासागरजी का दायित्व उतना ही बढ़ता जा रहा था। अपने प्राणों से भी प्रिय गुरुदेव के बिछुड़ने के समय

आँसुओं को रोकना, मरण-समय समभाव रखना, अत्यन्त कठिन कार्य था। इस अलौकिक एवं दुर्लभ-मरण-साधना को देखने के लिए जाति, वर्ग का भेद भुलाकर भक्तों की भीड़ लगी रहती। आश्चर्य स्वयं विस्मित था कि एक २७ वर्षीय युवाचार्य ८४ वर्षीय वयोवृद्ध श्रमण को सम्बोधन कर रहा है।

ज्ञानसागर विद्यासागर में समाहित होता जा रहा है। आचार्य विद्यासागरजी के शब्दों का अर्थबोध भले ही जन समूह कर रहा हो किन्तु यथार्थ भावबोध तो समाधि में प्रवृत्त श्रमण ज्ञानसागरजी ही कर रहे थे।

३० मई, १९७३ रात्रि का अन्तिम प्रहर है। प्रकृति निशब्द है। कोलाहल न जाने किस नीड़ में दुबक कर जा बैठा है? निस्तब्धता इतनी है कि सांसों की आहट भी अनुभूत की जा सकती है। कक्ष में हल्का-सा प्रकाश है। श्रमण ज्ञानसागरजी भूमि शय्या पर है। शरीर अस्थि-पंजर रह गया है। समीप ही आचार्य विद्यासागर जी गुरुदेव को अपलक देख रहे हैं। गुरुदेव के महाप्रयाण का समय समीप जानकर उनकी चेतना में अतीत की स्मृतियाँ संजीव हो उठीं। **"जीवन के पुष्प से आत्मज्ञान का मकरन्द और सुरभि उड़ने वाली है।"** आचार्य विद्यासागर अपनी निर्निमेष-दृष्टि से ज्ञान सुधा का शाश्वत आचमन कर लेना चाहते हैं। समय बीतता गया। आज सूर्य भी उनमन था। कभी प्रखर-प्रकाश कभी बादल छा जाते किन्तु प्रकाश के शाश्वत प्रहरी को अपना दायित्व निभाना था। सूर्य जागा रश्मियाँ प्रकृति के प्रांगण में अठखेलियाँ करने लगीं। समाधिस्थ श्रमण के पास भीड़ निशब्द आती और अपनी प्रणामांजलि कर लौट जाती। श्रमणश्री ज्ञानसागरजी को महाप्रयाण का समय समीप देखकर आचार्य विद्यासागरजी की आत्मा सिहर सिहर जाती। घनीभूत-पीड़ा को आँसुओं के माध्यम से निकलने हेतु मार्ग नहीं मिल रहा था। भीतर ही भीतर वह आँसुओं के निर्झर से नहा उठे। उसका प्रभाव उनकी देह पर स्पष्ट परिलक्षित हो रहा था। सम्पूर्ण देह से स्वेद बह रहा था किन्तु ये क्षण निराशा और अवसाद में गंवाने के नहीं थे। उन्हें अपने दायित्व का बोध था। अन्त समय श्रमण

सल्लेखनारत श्रमण ज्ञानसागरजी महाराज

ज्ञानसागरजी को संसार की आसक्ति न रह जाये, मोह उत्पन्न न हो जाए, वे निर्विकल्प-समाधि को प्राप्त हों, इसलिए उन्होंने गुरुदेव को निरन्तर सम्बोधित किया। वाणी संतुलित, गम्भीर किन्तु उसमें विशेष प्रकार का कम्पन था। उन्होंने समाधिस्थ संत को निरन्तर सम्बोधित किया-

"हे भव्य और दिव्य आत्मन्!

कृमिजालशताकीर्णे जर्जरे देह पिंजरे।
भव्यमाने न भेतव्यं यतस्तवं ज्ञानविग्रहः॥

शत-शत कृमियों से भरा हुआ जर्जर शरीररूपी पिंजरा टूट रहा है इस पर तुम भयभीत न हो क्योंकि तुम ज्ञान शरीरधारी हो। यह पौद्गलिक शरीर तुम नहीं हो।

ज्ञानिन! भयं भवेत् कस्मात् प्राप्ते मृत्युमहोत्सवे।
स्वरूपस्थः पुरं याति देही देहान्तरस्थितिः ॥

हे ज्ञानी आत्मन्! मृत्यु-महोत्सव के उपस्थित होने पर तुम किस बात से भय करते हो? यह आत्मा अपने स्वरूप में स्थित रहता हुआ एक देह से दूसरे देह में जाता है। इसमें उद्विग्न होने की कौन-सी बात है?

सुदत्तं प्राप्यते यस्माद् दृश्यते पूर्वसत्तमैः।
भुज्यते स्वर्भवं सौख्यं मृत्युभीतिः कुतः सताम्॥

पूर्व काल में ऋषि और गणधरादि सत्पुरुष ऐसा कहते हैं कि अपने किए हुए कर्तव्य तथा चारित्र का फल तो मृत्यु होने पर ही पाया जाता है।

आगर्भाद्दुःख-संतप्तः प्राक्षिप्तो देहपिंजरे।
नात्मा विमुच्यतेऽन्येन मृत्युभूमिपतिं विना॥

ज्ञानी पुरुष विचारता है कि इस कर्म रिपु ने मेरी आत्मा को देह पिंजरे में बंदी बना रखा है। जिस समय यह गर्भ में आया, उसी क्षण से क्षुधा-तृषा, रोग, संयोग-वियोग आदि दुखों ने इसे घेर लिया। इस बंधन ग्रस्त आत्मा को मृत्युराज के सिवा कौन मुक्त करा सकता है?

संसारासक्तचिन्तानां मृत्यु-र्भीत्यै भवेन्नृणाम्।
मोदायते पुनः सोऽपि ज्ञानवैराग्यवासिनाम्॥

जिन जीव का चित्त संसार में आसक्तिमान है, वे अपने आत्मरूप को नहीं जानते इसलिए उन्हें मृत्यु भयप्रद प्रतीत होती है किन्तु जो महान् आत्माएँ हैं, आत्मरूप को जानती हैं और वैराग्य धारण करती हैं, उनके लिए मृत्यु आनन्ददायी है।

''मृत्यु आनन्ददायी है'', इतना कहकर आचार्य विद्यासागरजी ने समाधिस्थ संत की ओर देखा। आचार्य ज्ञानसागरजी के पलक एक निमिष को खुले, अधरों पर हल्का-सा कम्पन हुआ जैसे कह रहे हो मृत्यु आनन्ददायी है, समाधिमरण प्राप्त करने हेतु एक दिन महानिष्क्रमण किया था, अपने गंतव्य को प्राप्त करते हुए इस नश्वर संसार से महाप्रयाण कर गए।

जेठ वदी अमावस्या सम्वत् २०३० दिनांक १ जून, १९७३ को ज्ञान सूर्य डूबा, तत्क्षण विद्यासागर की तरंगों पर झिलमिलाता हुआ दिखा।

❑ ❑ ❑

श्रमण ज्ञानसागरजी द्वारा समाधिमरणपूर्वक देह विसर्जित करने के पश्चात् आचार्य विद्यासागरजी अपने गुरु की पावन स्मृति अन्तर में संजोये, धर्म-साधना में निमग्न रहे किन्तु उनकी पावन स्मृति को भुलाना असम्भव था। समाधिकाल में गुरु का शीश, अपनी बाँह पर रखकर उन्हें सुलाते, चरणों के निकट सोते, उनकी चर्या के अनुकूल आहार कराते। समाधिकाल में उन्हें सम्बोधित करते। हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत-भाषा से अपरिचित, जैनदर्शन के रहस्यों से अपरिचित युवक विद्याधर को निरन्तर पाँच वर्षों में निष्णात विद्वान् और दुर्द्धर साधक बना दिया। युग का श्रेष्ठ आचार्य बना दिया। आचार्य विद्यासागर अपने गुरु की स्मृति को कैसे विस्मरण करते? अपने गुरु की स्मृति में भाव विह्वल रहते। जनमानस के ये शब्द उन्हें आज भी सुनाई पड़ जाते और उनके कानों में गूँजते रहते। ''कैसा आश्चर्य है एक युवाचार्य पिच्छिकाधारी श्रमण, ज्ञान के अनुपमेय सागर को सम्बोधित कर रहा है। लाखों रुपये उत्तराधिकार में पाने वाला पुत्र भी अपने पिता की इतनी सेवा नहीं कर सकता जितनी शिष्य ने अपने गुरु की सेवा की।'' अतीत उनकी स्मृति में वर्तमान बनकर लौट आता। जहाँ भी उनकी दृष्टि जाती,

वहीं गुरुदेव की पावन स्मृति का कोई न कोई अवशेष उनकी दृष्टि में आता। वह सोचते लाभ-हानि, जीवन-मरण में समभाव रखने वाला ही श्रमण होता है किन्तु श्रमण होने के पश्चात् भी मानवीय-संवेदनाएँ सांसें नहीं तोड़तीं, मर नहीं जातीं। साधक अपनी साधना से अनित्य-अनुप्रेक्षाओं का निरन्तर-चिन्तन कर, उन पर विजय प्राप्त करता है। उसकी संवेदनाएँ व्यापक हो जाती हैं। दीक्षा पूर्व उनका स्नेह परिवार के प्रति सीमित था, दीक्षा के उपरांत विश्व ही उनका परिवार हो गया।

कल तक वह अपने और अपनों को सुखी देखना चाहता था, आज उसका लक्ष्य विश्व कल्याण हो गया। उसके जीवन के चरण, जीवन की गति, चेतना व्यापक उद्देश्य में रूपान्तरित हो गई। वह एक चरण लोक-कल्याण के लिए उठाता और दूसरा चरण आत्म कल्याण के लिए और अन्त में सभी पर भावों को विसर्जित कर आत्म केन्द्रित हो जाता है।

नसीराबाद में श्रमण ज्ञानसागरजी ने जिस स्थान पर अन्तिम सांस ली थी और जिस स्थान पर अन्तिम संस्कार किया था, दोनों पवित्र-स्थानों को प्रणामांजलि अर्पित करके, गुरुदेव की पवित्र-स्मृति संजोये आचार्य विद्यासागरजी ने ससंघ विहार किया एवं पद विहार करते हुए ब्यावर पहुँचे। ब्यावर में चातुर्मास की स्थापना की। ब्यावर में करणानुयोग के महान् विद्वान् हीरालालजी साढूमल वाले 'षट्खण्डागम' का अनुवाद कार्य रहे थे। 'षट्खण्डागम' महान् आचार्य धरसेनाचार्य की प्रज्ञा का अमृत फल है। उनके द्वारा प्रदत्त तत्त्वज्ञान को महान् आचार्य पुष्पदंत एवं भूतबलि ने लिपिबद्ध किया। ईसा की प्रथम शताब्दि (ई० ६६-१०६) में प्रणीत यह ग्रन्थ जैन काशी-मूडबद्री में ताड़पत्रों पर लिखा उपलब्ध था, जिसके मात्र श्रद्धालुओं को दर्शन कराये जाते थे। श्रुत है कि जैनदर्शन के मनीषी विद्वान् टोडरमलजी को भी, इस ग्रन्थ के अवलोकन की अनुमति तत्कालीन भट्टारकजी द्वारा प्रदान नहीं की गई थी। षट्खण्डागम के अवतरण की कथा अत्यन्त रोचक है। यह कर्मसिद्धान्त का गूढ़तम ग्रन्थ है। इसकी उत्पत्ति मूल द्वादशांग श्रुत स्कन्ध से हुई है। इसमें छह खण्ड हैं और यह

ग्रन्थ प्राकृत भाषा में निबद्ध हैं। जीवट्ठाण, खुद्धाबन्ध, बंधस्वामित्व, वेदना, वर्गणा, महाबंध छह खण्ड हैं।

आचार्यश्री विद्यासागरजी ने इस महान् ग्रन्थ की विषय-वस्तु पर विस्तार से चर्चा की एवं पंडित हीरालाल जी के सान्निध्य में प्रथम खण्ड का विधिवत् अध्ययन किया। अपने प्रिय गुरु की स्मृति, उनके मानस पटल पर अंकित थी और इस स्मृति ने उन्हें कवि बना दिया और ब्यावर चातुर्मास में उनके मानस में जन्मा 'निजानुभव शतक'। स्व की अनुभूति अभिव्यक्त करना अत्यन्त कठिन कार्य है। यह कृति गुरु स्मृति के लिए समर्पित है।

थे ज्ञानसागर गुरु मम प्राण प्यारे,
थे पूज्य साधु गण से अति मुख्य न्यारे।
शास्त्रानुसार चलते, मुझको चलाते,
वन्दूँ उन्हें विनय से, शिर को झुकाते॥

ज्ञानसागरजी की दिव्य स्मृति प्रेरणा का पाथेय बनी। निजानुभव शतक इस सत्य की स्वयं साक्षी है। यह कृति देहरी पर रखे दीप के समान है जो भीतर और बाहर, स्व-पर प्रकाशक है। स्व को वास्तव में प्रकाशित करने, स्व का पुरुषार्थ ही काम आता है अत: स्व को स्व के द्वारा सम्बोधित किया।

साधू न किन्तु पर में सुख को बताते,
क्या नीर के मथन से नवनीत पाते?

आत्म साधना का मार्ग संकीर्ण है कि स्व के अतिरिक्त कोई अन्य नहीं रह सकता। सत्य का स्वभाव है कि वह अधिक समय तक अन्धकार में नहीं रहता। आज नहीं तो कल प्रकट हो जाता है।

रे मूढ़! तू जनमता, मरता अकेला,
कोई न साथ चलता, गुरु भी न चेला।
है स्वार्थपूर्ण यह निश्चय एक मेला,
जाते सभी बिछुड़ के जब अन्त बेला।

सत्ता नहीं जन्मती, उसका न नाश,
पर्याय का जनम केवल और ह्रास।
पर्याय है लहर, वारिधि सत्य सत्ता,
ऐसा सदैव कहते गुरुदेव वक्ता ॥

लौकिक-प्राणियों के मन का भार आँसुओं से और ज्ञानियों के मन का संशय प्रशस्त-राग लिखने से विलीन हो जाता है। निजानुभव शतक लिखकर आचार्य विद्यासागरजी स्व-स्वभाव की ओर उन्मुख हुए। निजानुभव शतक की ये पंक्तियाँ इस सत्य की मुखर साक्षी हैं।

मैं एक हूँ, पृथक् हूँ
सब से, सदा से
मैं शुद्ध हूँ
भरित
बोधमयी सुधा से

ब्यावर के पश्चात् १९७४ में आचार्यश्री ने अजमेर में चातुर्मास किया। आचार्यश्री दिव्य पुरुष हैं, प्रत्येक चातुर्मास में ऐसी घटनाएँ घटित होती हैं, जो इतिहास का अंग बन जाती हैं।

आचार्यश्री प्रातःकालीन प्रतिक्रमण कर बैठे थे। भक्तों से चर्चा कर रहे थे। महाराष्ट्र अकलूज से एक युवा डाक्टर चुन्नीलाल एम॰ बी॰ बी॰ एस. भी आचार्यश्री के दर्शनों को आये थे। आचार्यश्री की आध्यात्मिक-साधना और ज्ञान से प्रभावित होकर आध्यात्मिक-चर्चा करते रहते थे। एक दिन चर्चा के पश्चात् आचार्यश्री की चरण रज लेने के लिए झुके तो उनकी जेब से पैसे बिखर गये और वह पैसे उठाने लगे। यह देखकर आचार्यश्री हँस दिये और बोले ''देखो चेतन कैसा अचेतन के पीछे दौड़ रहा है।''

आध्यात्मिक चर्चा करना सरल है किन्तु जीवन में उतारना अत्यन्त कठिन है। डॉ॰ चुन्नीलाल के विवाह को अभी छह माह ही हुए थे। आचार्यश्री का सात्विक व्यंग्य उनके हृदय को छू गया। डॉ॰ चुन्नीलाल ने

कहा–आचार्यश्री! ''मैं अचेतन के प्रति आकर्षण तोड़ने का साहस रखता हूँ। मैं घर लौट कर अपनी पत्नी से चर्चा करूँगा, विश्वास रखें छह माह की अवधि में आकर दीक्षा ग्रहण करूँगा।''

डॉ० चुन्नीलाल ने अकलूज महाराष्ट्र से आचार्यश्री को तीन पत्र लिखे। आचार्य वीतरागी संत हैं, कभी पत्र नहीं लिखते। डाँ०. चुन्नीलाल ने अपना वचन निभाया और १४ मई, १९७५ को आचार्यश्री आदिसागरजी से अकलूज में दिगम्बरी दीक्षा ग्रहण की एवं उनकी पत्नी शकुन्तला ने क्षुल्लिका पद की दीक्षा ग्रहण की और वह मुनि वीरसागरजी के नाम से प्रसिद्ध हुए। निमित्त अकर्ता है, अकिंचन है किन्तु प्रेरक-निमित्तों की उपादेयता को जो अस्वीकार करते हैं, उन्हें स्याद्वाद सिद्धान्त का बोध तक नहीं है।

अजमेर में ही आचार्यश्री ने संस्कृत भाषा में काव्य-साधना प्रारम्भ की और प्रथम काव्य लिखा 'श्रमण शतकम्'। 'श्रमण शतकम्' की भाषा अत्यन्त दुरुह होने के कारण लोकहितार्थ उन्होंने इसका हिन्दी काव्य रूपान्तर भी किया। आचार्य होने के कारण श्रमणों को सम्बोधन करना भी, उनकी आचार संहिता का अंग है।

'श्रमणशतकम्' आचार्य विद्यासागरजी की प्रथम संस्कृत-रचना है। 'श्रमणशतकम्' आर्या छंद में निबद्ध है। सम्पूर्ण शतक यमक अलंकार की छटा से भूषित है। 'श्रमणशतकम्' श्रमणों के लिए पीयूष रसायन है। जिसका आस्वादन कर आत्मा अमृतरूपी सरोवर में अवगाहन कर, स्व-आत्मरस का पान कर सकता है।

'श्रमणशतकम्' कृति के विमोचन के समय संस्कृत के सुप्रसिद्ध विद्वान् प्रोफेसर प्रभाकर शास्त्री एवं जैनदर्शन एवं संस्कृत के प्रकांड पंडित जगन्मोहनलाल जी शास्त्री कटनी को आमंत्रित किया गया। 'श्रमण शतकम्' के विमोचन के समय कृति का अवलोकन कर प्रोफेसर प्रभाकर शास्त्री आश्चर्यचकित रह गये। 'श्रमणशतकम्' में कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग किया था जो संस्कृत शब्द कोष में उपलब्ध नहीं थे। अतएव शास्त्री जी ने

आचार्यश्री से पूछा–''आचार्यश्री! 'श्रमणशतकम्' में कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है, जो संस्कृत शब्द कोष में उपलब्ध नहीं हैं, ये शब्द आपने कहाँ से लिए हैं। आचार्यश्री ने उत्तर दिया 'दुर्भाग्य से साहित्यकार जैन-ग्रन्थों का अवलोकन करने का कष्ट तक नहीं उठाते। ये शब्द तो संस्कृत के जैन विश्वलोचनकोश से लिए हैं।'' प्रोफेसर प्रभाकर शास्त्रीजी ने कृति का विमोचन किया। कृति के विमोचन के पश्चात् 'श्रमणशतकम्' के कुछ श्लोक पढ़कर पंडित जगन्मोहनलालजी शास्त्री ने श्रोताओं को अर्थ का रसास्वादन कराना चाहा किन्तु श्लोक पढ़कर पसीना आ गया। अर्थ खोजने पर भी नहीं मिल रहा था। सौभाग्य से कृति के साथ आचार्यश्री द्वारा किया हिन्दी काव्य रूपान्तर था उसी के सहारे अर्थ-बोध करा सके। पश्चात् उन्होंने बताया–मैं ७५वर्ष का हो गया, संस्कृत पढ़ते-पढ़ाते पचास वर्ष हो गए। आश्चर्य है आचार्यश्री ने कन्नड़भाषी होते हुए केवल पाँच वर्षों में इतनी परिष्कृत हिन्दी और संस्कृत कैसे सीख ली। आचार्यश्री विलक्षण प्रतिभा के धनी हैं। ज्ञान और साधना का ऐसा अद्भुत संगम जीवन में प्रथम बार देखा। पंडित जगन्मोहनलालजी शास्त्री ने अजमेर में तीन दिन प्रवचन करने की अनुमति प्रदान की थी, किन्तु आचार्यश्री के ज्ञान और साधना से अविभूत होकर निरन्तर तीन माह तक रुके रहे।

अजमेर चातुर्मास के पश्चात् आचार्य संघ ने मदनगंज-किशनगढ़ की ओर विहार किया। मदनगंज में सिद्धचक्र विधान किया जा रहा था। इस धार्मिक अनुष्ठान में जैनदर्शन के महान् विद्वान् पंडित कैलाशचन्दजी सिद्धान्तशास्त्री जी को बनारस से बुलाया गया था। पंडितजी जैनदर्शन के शीर्षस्थ विद्वानों में से थे। वक्तृत्व कला उन्हें प्रकृति प्रदत्त थी। उनका व्यक्तित्व अत्यन्त आकर्षक था। समाज ने उन्हें इसलिए आमंत्रित किया था क्योंकि वर्तमान के कतिपय मुनियों की चर्या से वे क्षुब्ध थे, साथ ही स्पष्ट वक्ता थे। पंडितजी जैन-दर्शन के मनीषी विद्वान् होने के साथ सरल और निश्छल व्यक्ति थे। सत्य स्वीकार करने में उन्हें किंचित् भी संकोच न था। इस आयोजन में न्याय एवं दर्शन के प्रतिनिधि विद्वान् डॉ० श्री दरबारीलाल

जी कोठिया वाराणसी को भी आमंत्रित किया गया था। पंडित कैलाशचन्द जी ने अपनी व्यस्तता के कारण मात्र एक प्रवचन देने की अनुमति प्रदान की थी, किन्तु आचार्यश्री की निर्दोष मुनिचर्या एवं प्रवचन के आकर्षण के कारण तीन दिन तक रुके रहे और इतने प्रभावित हुए कि आचार्य विद्यासागरजी के व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर एक लेख लिखा–''एक नये नक्षत्र का उदय।''

इन दिनों आचार्यश्री 'भावनाशतकम्' लिख रहे थे। 'भावनाशतकम्' आर्याछंद में निबद्ध माधुर्य मंडित आध्यात्मिक-काव्य है। इस शतक में जिन भावनाओं के द्वारा तीर्थंकर-प्रकृति का बंध होता है उनका विशद एवं सुमधुर चित्रण किया गया है। भावनाओं का वर्णन होने के कारण इस काव्य का नाम 'भावनाशतकम्' है। डॉ॰ दरबारीलालजी कोठिया एवं कैलाशचन्दजी सिद्धान्तशास्त्री ने जब इस संस्कृत काव्य और उसके हिन्दी अनुवाद को सुना तो चकित रह गये।

एतद्वहता गमितं ह्यनन्तान्तं पाप सम्यगमितम्।
स्वमूल्यं येन गमितं तस्यै कं किं नाङ्गमित्तम्॥

निर्भीक हो विनय आयुध को सुधारा।
हे वीर! मान रिपु को पुनि शीघ्र मारा॥
पाया स्वकीय निधि को जिसने यदा है।
क्या मांगता वह कभी जड़ सम्पदा है?॥

यथा कल्पते मदनता रसतो मदनाहितेन मदनः।
मदोऽनलतोऽपि मदनः प्रज्ञानः योगात् कामदनः।

होता विनिर्विष रसायन से धतूरा,
है अग्नि से पिघलता झट मोम पूरा।
ज्यों काम देख शिव को दश प्राण खोता।
विज्ञान को निरख त्यों मद नष्ट होता॥

डॉ० दरबारीलालजी कोठिया एवं कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री एक २७ वर्षीय मूलतः कन्नड़भाषी युवाचार्य का परिष्कृत संस्कृत, प्राकृत एवं हिन्दी का ज्ञान देखकर चकित हुए। ७ वर्ष पूर्व जिसे भाषाओं का ज्ञान नहीं था, इतने अल्पकाल में इन भाषाओं पर अधिकार कैसे हो गया?

मदनगंज से लौटते समय पंडित कैलाशचन्द्रजी ने आचार्यश्री की चरण वन्दना की और कहा–मैं जा रहा हूँ। ''सुनकर आचार्यश्री के अधरों पर स्वाभाविक–हास्य उतर आया और बोले–आना, जाना तो लगा हुआ है।'' पंडित जी वाक्य सुनकर आश्चर्य से आचार्यश्री की ओर देखने लगे। पंडित जी आचार्यश्री के शब्दों का मर्म समझ चुके थे किन्तु वह निर्णय नहीं कर पा रहे थे कि ये शब्द आचार्यश्री ने सोद्देश्य कहे हैं अथवा सहज अधरों पर आ गये हैं। आचार्यश्री ने उनके भावों को पढ़ लिया और एक सूत्र कहा ''**उत्पादव्यय–ध्रौव्ययुक्तं सत्**'' और व्याख्या की, आना उत्पाद, जाना व्यय और लगा हुआ है ध्रौव्य। सुनकर पंडित कैलाशचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री अत्यन्त प्रसन्न हुए और आचार्यश्री के सान्निध्य की सुखद अनुभूति लिए लौटे।

❑ ❑ ❑

सदलगा से १८ किलोमीटर की दूरी पर निर्जन एवं प्रकृति के सुरम्य स्थल में अक्किवाट नामक स्थल है। ऋद्धिधारी दिगम्बर श्रमण विद्यासागर की पावन–स्मृति में निर्मित यह समाधिस्थल जन–जन की श्रद्धा का केन्द्र है। समाधिस्थल पर बने युगल चरण मुक्तिमार्ग पर गतिशील होने का मौन सन्देश देते हैं। जनमानस की दृष्टि से यह चमत्कारी–स्थल है। मल्लप्पा एवं श्रीमंती जी दीर्घकाल से समय–समय पर समाधि के दर्शनों को आते हैं। ऋद्धिधारी विद्याधर के चरणों में वन्दना कर पति–पत्नी दोनों समाधिस्थल के निकट खड़े हैं।

श्रीमंती–''स्वामी! स्मरण है कि समाधिस्थ श्रमण विद्यासागर की पावन स्मृति से प्रभावित होकर हमने अपने पुत्र का नाम विद्याधर रखा था, यद्यपि हम उसका नाम विद्यासागर रखना चाहते थे किन्तु वह तो

वास्तव में विद्यासागर बन गया।''

मल्लप्पा—''प्रकृति के अज्ञात संकेतों को कौन समझ सकता है? कभी कल्पना भी नहीं की थी कि विद्याधर के समान चंचल बालक एक दिन दिगम्बर-श्रमण बन जायेगा। आचार्य ज्ञानसागरजी को क्या पता था कि हम अपने पुत्र का नाम विद्यासागर रखना चाहते थे। अक्किवाट के संत के नाम पर हम अपने पुत्र का नाम श्रमण होने के कारण संकोच कर रहे थे किन्तु आचार्य ज्ञानसागरजी ने श्रमण बनाकर नाम को सार्थकता प्रदान कर दी।''

श्रीमंती—''स्वामी! बहुत लम्बा समय बीत गया अपने पुत्र के दर्शन किये बिना मेरी हार्दिक भावना है कि परिवार सहित दर्शन करने चले।''

मल्लप्पा—''देवी! हमें विद्यासागर को अब अपना पुत्र कहने का अधिकार समाप्त हो चुका है। अब न मैं उसके लिए पिता हूँ और न तुम माता। सभी रिश्तों की इति हो चुकी है। ये सब ग्रन्थियाँ हैं और वह इन सब सन्धियों को तोड़ चुका है। अब वह निर्ग्रन्थ श्रमण है। भूल जाओ कि वह अब हमारा तुम्हारा पुत्र है। अब वह युग के सुप्रसिद्ध जैनाचार्यों में से एक है।''

श्रीमंती—''होगा युग का सुप्रसिद्ध जैनाचार्य। काल अविभाज्य है, काल का विभाजन नहीं होता किन्तु काल को विभाजित किये बिना न तो इतिहास बनता है और न घटनाएँ लिखी जाती हैं। १०.१०.१९४६ से लेकर ३० जून, १९६८ तक जन्म से लेकर दीक्षा पूर्व तक वह हमारा पुत्र था और रहेगा, इस सत्य को कौन अस्वीकार करेगा? जब भी उसका इतिहास लिखा जायेगा तब इस सत्य को अस्वीकार करने का साहस कौन करेगा? मैं अपने पुत्र के दर्शन करना चाहती हूँ।

मल्लप्पा—अभी पुत्र-पुत्र की रट लगा रही है, उसके सामने जाते ही यह भाव तिरोहित हो जायेगा और हे स्वामी! नमोऽस्तु, हे स्वामी! नमोऽस्तु के अतिरिक्त तुम्हारे अधरों से कोई बोल भी नहीं निकलेगा।

श्रीमंती– ''तुम्हारे साथ रहते हुए वर्षों बीत गये।'' मैं क्या इतना भी नहीं जानती कि दिगम्बर श्रमण क्या और कैसे होते हैं? सामने जाकर किस प्रकार नमन-वन्दन किया जाता है? अच्छा ये बताओ आचार्यश्री विद्यासागरजी के दर्शनों को कब चल रहे हो?''

मल्लप्पा– ''मैं तो नहीं जा सकूँगा। शेष के सन्दर्भ में तुम स्वयं निर्णय ले लो। अक्किवाट की समाधि पर तुमने जाने का निर्णय लिया है अब तुम्हें जाने से कौन रोक सकता है? इस समाधि की प्रसिद्धि ही इसलिए है कि यह मनोकामना पूर्ण करती है। पर घर लौट आना।

''मैं तो लौट आऊँगी पर तुम तो इसी भय से नहीं चल रहे कहीं श्रमण न बन जाओ।'' मैं तुम्हारे भावों की भाषा जानती हूँ। मुझे पता हो चुका है एक बार श्रमण बनने घर से भाग गये थे। मैं ही तुम्हारे मार्ग में बाधा बन गई। विवाह का बंधन कितना कठोर होता है? उसे तुम आज तक नहीं तोड़ पाये।

मल्लप्पा–''भाग्यवान! अब चुप भी रह। लौकिक-जीवन के दायित्वों को पूर्ण किये बिना साधु बनने की भी अनुमति नहीं। गृहस्थ जीवन के दायित्वों से पलायन करके वेष भले ही बदल जाएँ, भावनाएँ नहीं बदलतीं। भावनाएँ न बदलें और मन घर की चिन्ताओं में भटकता रहे ऐसा श्रमणत्व धर्म के नाम पर कलंक है।''

श्रीमंती–''अब आपको किस बात की चिन्ता है?''

मल्लप्पा–''महावीर के अतिरिक्त दोनों पुत्र अनुभवहीन युवा हैं। दोनों बेटियाँ शांता एवं स्वर्णा का विवाह करना है। जिसे दो पुत्रियों की शादी की चिन्ता हो वह क्या साधु बनेगा? मेरे मन में मुनि बनने का विचार भले ही आता हो किन्तु वह कभी संकल्प नहीं बन सका।''

श्रीमंती–''तो आप चलेंगे?''

मल्लप्पा–''नहीं मैं जब इच्छा होगी तब जाऊँगा।''

श्रीमंती जी ने अपने पुत्र अनन्तनाथ से कहा–''आचार्य विद्यासागरजी के दर्शनों की अभिलाषा है, मेरी इच्छा पूरी कर।''

अनन्तनाथ ने कहा–''माँ! मुनि पद-विहारी होते हैं, अभी तक तो आचार्यश्री अजमेर में थे किन्तु कब विहार कर दे, कहाँ जाए! पता नहीं। आचार्यश्री राजमार्ग छोड़कर पगडंडियों पर विहार करते हैं, पता नहीं किस गाँव में मिलें? अनिश्चितता समाप्त हो जाने दो। कुछ माह रुक जाओ, चातुर्मास की स्थापना हो जाने दो, तब चलेंगे।''

किन्तु श्रीमंतीजी आचार्यश्री के दर्शनों को व्याकुल थीं, वह प्रतीक्षा करने तैयार नहीं थीं उन्होंने कहा– ''पुत्र! मैं प्रतीक्षा नहीं कर सकती। मेरे प्राणों में अकुलाहट बढ़ रही है। तू तैयारी कर ले।

अनन्तनाथ– माँ ''क्या पिताजी सुदूर यात्रा के लिए अनुमति देंगे? क्या आपने उनकी अनुमति प्राप्त कर ली है?''

माँ ने कहा–''नहीं पुत्र! तू इसकी चिन्ता मत कर। यदि हम जाने के लिए संकल्पित हैं, तो वह विरोध भी नहीं करेंगे।''

अनन्तनाथ–''माँ! कौन-कौन साथ चलेगा? माँ ने कहा–मैं तो चाहती हूँ केवल तू और मैं चलते किन्तु तेरी बहिन स्वर्णा एवं शांता भी चलने के लिए हठ कर रही हैं। आचार्यश्री के दर्शनों की जैसी मेरी इच्छा है वैसी ही इन सबकी। मैं तो किसी को भी रोकने में असमर्थ हूँ, जो साथ चले उसे सहर्ष ले चलो।''

अनन्तनाथ ने कहा–''माँ। मुझे यात्राओं का कोई अनुभव नहीं है। अजमेर में हिन्दी और राजस्थानी भाषा बोली जाती है हम सभी को कामचलाऊ हिन्दी आती है माँ बहुत असुविधा होगी।''

श्रीमंतीजी ने कहा–''जो परेशानी आयेगी, उसे भोगेंगे तू तैयारी कर ले।'' श्रीमंतीजी, अनन्तनाथ, स्वर्णा एवं शांता ने अजमेर के लिए प्रस्थान किया। लम्बी यात्रा कर रात्रि में ९:३० पर अजमेर पहुँचे। अजमेर में ज्ञात हुआ आचार्यश्री ससंघ श्री महावीरजी की ओर विहार कर गये। श्रीमंतीजी, अनन्तनाथ, स्वर्णा और शांता ने रात्रि में जैन धर्मशाला में विश्राम किया और निश्चय किया कि जब आ ही गये हैं तो आचार्यश्री के दर्शन कर ही लौटेंगे। प्रातः मल्लप्पा परिवार ने टोंक के लिए प्रस्थान

किया। टोंक पहुँचने पर ज्ञात हुआ आचार्यश्री विहार कर चुके हैं, एक दो दिन पश्चात् सवाईमाधोपुर पहुँचेंगे। दूसरे दिन ग्राम पछाल में आचार्यश्री के दर्शन हुए।

श्रीमंतीजी, अनन्तनाथ, स्वर्णा एवं शांता आचार्यश्री के दर्शनों को आये थे किन्तु यात्रा का उद्देश्य समान दिखते हुए भी समान न था। श्रीमंतीजी अपने पति के समान विचार रखती थीं कि स्वर्णा एवं शांता के विवाह के पश्चात् साधनामय जीवन बितायें। वह सोचती पारिवारिक जीवन, जीवन की चिन्ता, पूर्ण यात्रा है और वासना एक अन्तहीन अतृप्ति। स्वर्णा एवं शांता चुपचाप निःशब्द भावात्मकरूप से विरक्ति के पथ पर यात्रा कर रहीं थीं। वह साधना के दुर्गम एवं अज्ञात प्रदेशों में यात्रा कर रहीं थीं जिसकी मात्र उन्हें कल्पना थी अनुभूति किंचित् भी नहीं। पर उन्होंने अपनी भावात्मक यात्रा की आहट तक नहीं होने दी। वह दोनों चाहती थीं, साधना के पथ पर अविराम चलना, लौकिक-जीवन से पूर्ण मुक्ति, किन्तु उनकी साधनामय जीवन का शुभारम्भ पराश्रित था। वे चाहती थीं कि आचार्यश्री आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत प्रदान कर दें, तो उनकी साधनामय यात्रा सरल हो सकती है। उनमें इतना साहस नहीं था कि माता-पिता की आज्ञा का उल्लंघन कर सकें। यदि आचार्यश्री ने आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत प्रदान नहीं किया तो जीवनपर्यन्त मानसिक-संघर्षों के विरोधाभास में जीना होगा। उन्होंने अपना अभिप्राय किसी से प्रकट नहीं किया था। संपूर्ण यात्रा में दोनों मौन थीं। प्रतीक्षा कर रहीं थीं, ऐसा शुभ समय आये कि वे व्रत के लिए अनुरोध करें और आचार्यश्री उन्हें व्रत प्रदान कर दें। भैया अनन्तनाथ सदैव दोनों बहिनों के साथ रहते, सम्भवतः उन्होंने दोनों बहिनों की हृदय की मौन भावना पढ़ ली थी। वह अनेक बार कह चुके थे, कोई व्रत लेने की भूल न करना। संयम का पथ अत्यन्त कंटकाकीर्ण है, जोखिम भरा है। सम्पूर्ण जीवन की साधना को नष्ट करने एक भूल पर्याप्त है। जैसे तूलि के ढेर को एक स्फुलिंग जलाकर राख कर देती है।

स्वर्णा एवं शांता दोनों भैया की बात सुनतीं किन्तु कोई उत्तर नहीं

देतीं। उनका मौन अनन्तनाथ की शंका बढ़ा रहा था।

आचार्य विद्यासागरजी पछाल नामक गाँव में पहुँचे। श्रीमंती, शांता, स्वर्णा, अनन्तनाथ आचार्यश्री के दर्शन कर अभिभूत हुए। आचार्यश्री के आहार के पश्चात् स्वर्णा एवं शांता ने आचार्यश्री से ब्रह्मचर्य व्रत प्रदान करने की याचना की। आचार्यश्री के अधरों पर मन्द हास्य उतरा और बोले देखेंगे और तत्काल विहार कर गये। पछाल से कुरुहला ग्राम होते हुए सवाईमाधोपुर पहुँचे।

सवाईमाधोपुर में स्वर्णा एवं शांता ने अनन्तनाथ से कहा–''भैया! आहार हेतु चौका लगा रहे हैं शहर जाकर सब्जी ले आओ।'' अनन्तनाथ के लिए सवाईमाधोपुर अनजाना शहर था। मूलतः कन्नड़भाषी थे, भटक गये और सब्जी लेकर उस समय लौटे जब आहार का समय बीत गया। आहार के पश्चात् स्वर्णा एवं शांता ने आचार्यश्री से आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत प्रदान करने की कामना व्यक्त की। आचार्यश्री ने व्रत प्रदान कर दिया।

अनन्तनाथ जब लौटा तो उसे ज्ञात हुआ कि दोनों बहिनों ने आजीवन ब्रह्मचर्य स्वीकार लिया है तो वह बहुत रोया। उसने अपने आपसे कहा– ''मुझे यह पता होता तो दोनों बहिनों को साथ लाता ही नहीं।''

संसारी प्राणी को जब तक आध्यात्मिक–जीवन की अनुभूति नहीं होती, उस समय तक नियम–संयम अतीन्द्रिय–सुख काल्पनिक लगते हैं।

पुत्र, पुत्रियों और पुत्रों के आचार्यश्री के दर्शनों को जाने के पश्चात् मल्लप्पाजी का मन उदासी से भर गया। वे पछताने लगे मैंने व्यर्थ सभी को अनन्तनाथ के साथ भेज दिया। उसे यात्राओं का अनुभव नहीं। मल्लप्पा अपने सबसे छोटे पुत्र शांतिनाथ को साथ लेकर सवाईमाधोपुर आये। उन्होंने देखा उनकी दोनों पुत्रियाँ श्वेत साड़ी पहनने लगीं हैं। मल्लप्पाजी ने दोनों पुत्रियों से पूछा–''क्या कोई व्रत ले लिया है? दोनों ने कोई उत्तर नहीं दिया मौन रहीं। उन्हें ज्ञात हो चुका था कि दोनों पुत्रियों ने ब्रह्मचर्य व्रत लिया है किन्तु उन्हें यह ज्ञात न हो सका कि व्रत किसी निश्चित अवधि के लिए लिया है अथवा जीवनपर्यन्त के लिए इसलिए उन्होंने आचार्यश्री से

पूछा–''आचार्यश्री स्वर्णा एवं शांता को आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत दिया है अथवा किसी निश्चित अवधि के लिए।'' आचार्यश्री मौन रहे।

आचार्यश्री के दर्शनों को श्री महावीरजी में कजौड़ीमल आए। मुनियों के प्रति उनकी आस्था असीम है। श्रावक के रूप में स्वप्रेरणा से कजौड़ीमल आचार्य संघ के अभिन्न अंग बन चुके हैं। आचार्यश्री ने कजौड़ीमलजी को निर्देश दिया ब्रह्मचारिणी स्वर्णा एवं शांता को साधना हेतु आचार्यश्री धर्मसागरजी महाराज के संघ में छोड़ आओ। आचार्य धर्मसागरजी ससंघ मुजफ्फरनगर (उत्तरप्रदेश) में विराजमान हैं। श्रीमंतीजी को ज्ञात हुआ कि दोनों पुत्रियाँ आचार्य धर्मसागरजी के संघ में जा रही हैं, तो उन्होंने कहा मैं गृहस्थ जीवन में रहकर क्या करूँगी? वह भी आचार्य धर्मसागरजी के संघ में चली गई।

मल्लप्पाजी की पत्नी एवं पुत्रियाँ गृहत्यागी बन चुकीं थीं। पुत्रियों के कारण ही वे गृहस्थी में रुके थे। दीर्घकाल से जैनदर्शन का अध्ययन कर रहे थे। सदलगा के जैन देवालय में नियमित प्रवचन करते थे। जैनदर्शन के मर्म को समझते थे, गृहस्थ जीवन का कोई अर्थ शेष नहीं रह गया था। श्री महावीरजी में इन्हीं दिनों श्रुतपारगामी संत, महान् तपस्वी आचार्य श्रुतसागरजी का संघ आया, आचार्य विद्यासागरजी ससंघ उनकी अगवानी के लिए गये। मल्लप्पाजी आचार्य श्रुतसागरजी के संघ में रहकर धर्मसाधना करने लगे।

अनन्तनाथ और शांतिनाथ दोनों युवा हो चुके थे। कर्तव्यविमूढ़ थे, क्या करें? पिताश्री, माँ, दोनों बहिनें जीवनपर्यन्त के लिए धर्म की शरण में चली गयीं हैं। दोनों भाई संघ की दिनचर्या देखते, प्रवचन सुनते किन्तु यह आकर्षण उन्हें लम्बे समय तक आकर्षण में न बांध सका। घर लौटने व्याकुल हो उठे।

अनन्तनाथ एवं शांतिनाथ आचार्यश्री के दर्शन करने और घर लौटने की आज्ञा लेने गये। आचार्यश्री ने कहा–''अब घर जाने का आकर्षण छोड़ो। संसार में व्यक्ति खाली हाथ आता है, अन्त समय खाली हाथ लौट

जाता है। मानव मात्र की यही नियति है। घर जाकर क्या करोगे? वही व्यवसाय, वही साहूकारी। अनेक जीवन, लौकिक जीवन को संवारने में लगा दिये। एक जन्म आत्मकल्याण के लिए समर्पित करके तो देखो। मनुष्य जन्म दुर्लभ रत्न के समान है। उसे वासना के कलुषित सागर में मत फेंको। मैंने जिस मार्ग का अनुकरण किया है, उस मार्ग पर चलकर तो देखो। इस मार्ग में परम शांति है और यह मार्ग मुक्ति के गंतव्य तक ले जाने की क्षमता रखता है।'' इतना कहकर आचार्यश्री मौन हो गये। अनन्तनाथ और शांतिनाथ अपलक विस्मित होकर आचार्यश्री को निहारते रहे। उनकी स्मृति सुदूर वर्षों पीछे चली गई। एक दिन घर के आँगन में खेल रहे थे तब भैया विद्या ने कहा था–''क्यों अनन्तनाथ तुझे णमोकार मंत्र आता है? मैंने कहा था नहीं भैया किसी ने सिखाया ही नहीं।'' तब भैया ने कहा था– ''इतना बड़ा हो गया णमोकार-मंत्र तक नहीं आता। खेल बंद करो और चलो मेरे साथ, घर के भीतर कक्ष में ले गये और न्यूनतम बीस बार णमोकार-मंत्र का पाठ कराया। अर्थ समझाया और निर्देश दिया दिन में एक बार णमोकार मंत्र की माला अवश्य फेरा करो।''

अनन्तनाथ ने कहा–''गुरुदेव वैराग्य क्या होता है? विरक्त जीवन में सुख-दुख की अनुभूति कैसी होती है? मुक्ति क्या होती है। इसकी हमें कल्पना तक नहीं। आपने जितना धर्म पढ़ाया था बस उतना ही कंठस्थ है। बाल्यकाल में आपने णमोकार मंत्र का पाठ करने को कहा था, उसका आज तक पालन कर रहा हूँ। माता पिता दोनों बहिनें आजीवन के लिए धर्म की शरण में चली गयी हैं। हमें आप पर पूर्ण विश्वास है। आप हमारे भविष्य को जो दिशा देना चाहें हमें स्वीकार है।''

आचार्यश्री–''मैंने शांति और मुक्तिमार्ग की ओर संकेत किया है। संघ में रहो श्रमणों की दिनचर्या देखो। साधना का मार्ग अत्यन्त सरल भी है और कठिन भी। यदि दृष्टि में विरक्ति है, तो विरक्त जीवन अत्यन्त आह्लादकारी है। प्रथम वस्त्र बदलो, धोती-कुर्ता पहनना प्रारम्भ करो। तत्काल निर्णय लेने की आवश्यकता नहीं।''

श्री महावीरजी में २ मई, १९७५ को अनन्तनाथ और शान्तिनाथ को आचार्यश्री ने आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत की दीक्षा प्रदान की और दोनों आचार्य संघ के अभिन्न अंग बन गये। आचार्यश्री ने स्वयं दोनों को तत्त्वार्थसूत्र, पंचास्तिकाय आदि ग्रन्थों का उच्चारण एवं अर्थबोध कराया। आचार्य संघ विहार करता सिद्धक्षेत्र सोनागिरी पहुँचा एवं १८ दिसम्बर, १९७५ को अनन्तनाथ एवं शान्तिनाथ को क्षुल्लक दीक्षा प्रदान की एवं नाम संस्कार किया क्रमश: योगसागर एवं समयसागर।

आचार्यश्री धर्मसागरजी का संघ मुजफ्फरनगर (उत्तरप्रदेश) में था, आचार्यकल्प श्रुतसागरजी के संघ में से मल्लप्पाजी भी आचार्य धर्मसागरजी के संघ में आ गये। श्री मल्लप्पाजी, श्रीमंतीजी, स्वर्णा एवं शांता, आचार्य संघ में धर्म साधना कर रहीं थीं। माघ शुक्ला, पंचमी, संवत् २०३२ का दिन श्रमण संस्कृति के इतिहास में स्वर्णिम पावन एवं अद्‌भुत दिवस के रूप में अंकित किया जायेगा। श्री मल्लप्पाजी, श्रीमंतीजी, स्वर्णा एवं शांता एक ही परिवार के सदस्यों ने दिगम्बरी दीक्षा ग्रहण की। मल्लप्पाजी का नाम मल्लिसागर एवं श्रीमंतीजी का नाम आर्यिका समयमती माताजी रखा गया। दोनों पुत्रियाँ भी आर्यिका बन गईं। दीक्षा पूर्व मल्लप्पाजी से आचार्यश्री ने कहा–आप मुनि की अपेक्षा क्षुल्लक-दीक्षा ले लीजिए। मल्लप्पाजी ने कहा–''आचार्यश्री! धोती छोड़ने में पचास वर्ष लगे तो लंगोटी छोड़ने में न जाने कितना समय लगेगा? जीवन यात्रा का अन्तिम चरण है। बहुत अल्प समय शेष है। सर्व परिग्रहों से मुक्त कर दिगम्बरी-दीक्षा दीजिए।''

कालान्तर में अनन्तनाथ और शान्तिनाथ ने आचार्यश्री विद्यासागरजी से मुनि दीक्षा ग्रहण की। वर्तमान में वे मुनि योगसागर और समयसागर नाम से साधनारत हैं। मल्लप्पा परिवार के आठ सदस्यों में से सात सदस्य विरक्ति के आदर्श पथ पर चल रहे हैं। युगादि में आदि तीर्थंकर ऋषभदेव भगवान् के सभी पुत्र-पुत्रियों ने दिगम्बरी दीक्षा ग्रहण की थी उसके पश्चात् श्रमण-संस्कृति के इतिहास में ऐसी किसी घटना का कोई उल्लेख नहीं

मिलता। आचार्य विद्यासागर ने उस विलुप्त परंपरा को संजीवनी प्रदान की।

श्री महावीरजी से आचार्य-संघ ने विहार किया। भरतपुर, मथुरा, आगरा होते हुए आचार्यश्री फिरोजाबाद पधारे। फिरोजाबाद में १९७५ में चातुर्मास हेतु किसी भी मुनिराज के आगमन की कोई सूचना नहीं थी। चातुर्मास स्थापना के एक दिवस पूर्व आचार्यश्री पधारे और सेठ छदामीलाल के द्वारा निर्मित जिन देवालय में चातुर्मास की स्थापना की। आचार्यश्री के मार्मिक प्रवचन सुनकर फिरोजाबाद निवासी अत्यधिक आह्लादित हुए एवं प्राचार्य नरेन्द्रप्रकाशजी ने आचार्यश्री के मंगल प्रवचनों को सम्पादित कर प्रकाशित कराया। आचार्यश्री के प्रवचनों का यह प्रथम संकलन था। फिरोजाबाद में चातुर्मास की स्थापना नवनिर्मित देवालय में हुई थी किन्तु प्रवचन हेतु आचार्यश्री नगर में निर्मित प्रवचन स्थल पर जाते। एक दिन आचार्यश्री प्रवचन करने हेतु गये थे, उसी समय एक ब्रह्मचारी भीमसेन के उदर में भयंकर पीड़ा हुई। भीमसेन ने असहनीय वेदना से छटपटाते हुए कहा– ''प्रवचन और आहार के पश्चात् जब आचार्यश्री लौटेंगे उस समय तक पता नहीं मैं जीवित भी रहूँगा या नहीं। मैं बड़ा दुर्भाग्यशाली हूँ कि अन्त समय महानतम् आचार्यश्री के सान्निध्य से वंचित रहूँगा। काश! गुरुदेव के सान्निध्य में समाधिमरणपूर्वक देह विसर्जित कर पाता।'' आचार्यश्री प्रवचन सभा में विराजमान थे, भीमसेन के गंभीर रूप से अस्वस्थ होने के समाचार को सुनकर तत्काल बिना प्रवचन दिये लौटे।

भीमसेन ने कहा–''गुरुदेव! मेरे पेट में असहनीय पीड़ा है। मुझे सल्लेखनापूर्वक प्राण त्यागने की अनुमति दीजिए।''

आचार्यश्री ने कहा–''भीमसेन तुम युवा हो। सल्लेखना व्रत आयु के अंत में दिया जाता है और मेरी दृष्टि में तुम्हारी आयु का अन्त निकट नहीं है।'' भीमसेन सल्लेखना के लिए जिद करने लगा तब आचार्यश्री ने समझाया–''मानव-जीवन अमूल्य निधि है, उसकी रक्षा करना मानव का प्रथम कर्त्तव्य है। मरण जब नियति बन जाये सल्लेखना तब दी जाती

है। साहस रखो मेरा आदेश है चिकित्सा कराओ।'' चिकित्सा विशेषज्ञों को बुलाया, उन्होंने बताया पेट में आँतें उलझ गयीं हैं शल्य चिकित्सा अनिवार्य है। विलम्ब करने से प्राणों का भय है। आचार्यश्री ने तत्काल आपरेशन हेतु अनुमति प्रदान कर दी। शल्य चिकित्सा के पश्चात् भीमसेन स्वस्थ हो गये। सल्लेखना एक महान् व्रत है किन्तु उसका महत्त्व परिस्थितियों की गंभीरता पर निर्भर करता है।

फिरोजाबाद का चातुर्मास अविस्मरणीय रहा। चातुर्मास की समाप्ति पर मध्यान्तर में सामायिक के पश्चात् बिना सूचना के आचार्यश्री ने ससंघ विहार कर दिया। फिरोजाबाद से तीन किलोमीटर दूर पहुँचने पर फिरोजाबाद निवासी बड़ी संख्या में दर्शनों को पहुँचे। सेठ श्री छदामीलालजी ने कहा– ''आचार्यश्री! आपने तो कहा था कि कल 'अतिथि' पर प्रवचन होगा और आपने बिना प्रवचन दिये ही विहार कर दिया।'' आचार्यश्री ने कहा– ''अतिथि पर यह प्रवचन ही तो है। अतिथि के आने-जाने की कोई तिथि नहीं होती। मैं बिना आमंत्रण के आया था, बिना सूचना दिये विहार कर दिया। व्यक्ति की व्यक्ति, वस्तु और स्थान के प्रति आसक्ति ही मूर्च्छा है। और मूर्च्छा परिग्रह है। निर्ग्रन्थों को परिग्रह से क्या काम?'' आचार्यश्री की वाणी सुनकर सभी आह्लादित हुए। आचार्यश्री ने पिच्छिका-कमण्डलु उठाये और बालयति संघ सहित चल दिये। आकर्षण में बंधे श्रद्धालु नर-नारी उन्हें देखते रहे जब तक दृष्टि से ओझल नहीं हो गये। शेष रह गई पावन स्मृतियाँ।

आचार्यश्री फिरोजाबाद से राज-मार्ग पगडण्डियों पर चलते आगरा, शमशाबाद, मुरैना, ग्वालियर, डबरा होते हुए पहुँचे सिद्धक्षेत्र सोनागिरि।

सिद्धक्षेत्र सोनागिरि के दर्शन कर आचार्यश्री अभिभूत हुए। इस सिद्धक्षेत्र पर महावीर, अनन्तनाथ और शांतिनाथ को दिनांक १८.१२.१९७५ को क्षुल्लक दीक्षा प्रदान की और नाम रखे क्रमशः नियमसागर, योगसागर और समयसागर। उन्हें स्मरण हुआ आचार्य ज्ञानसागरजी ने कहा था संघ को गुरुकुल बनाना ऐसा कार्य करना, जिससे दिगम्बरत्व की परम्परा

अक्षुण्ण बनी रहे। सोनागिरि तीर्थक्षेत्र से प्रभावित होकर बुन्देलखण्ड के तीर्थक्षेत्रों की वंदना की भावना हुई। सोनागिरि से ललितपुर, देवगढ़, चन्देरी, टीकमगढ़ (पपौरा), अहारजी, द्रोणगिरि, छतरपुर, खजुराहो, पन्ना, देवेन्द्रनगर, नागौद, सतना, रीवा, मैहर, अमरपाटन होते हुए कटनी पधारे। सोनागिरि से कटनी का विहार न्यूनतम ५०० किलोमीटर का रहा। बुन्देलखंड में आचार्यश्री ने प्रथम बार विहार किया था। अनियत विहार, अनजाना मार्ग संघस्थ साधुओं, श्रमणों के पास पिच्छिका-कमण्डलु और स्वाध्याय हेतु पुस्तकों के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। यात्रा की कठिनाईयों की सामान्य व्यक्ति तो मात्र कल्पना ही कर सकता है। श्रमण शुद्ध आहार नवधाभक्तिपूर्वक श्रावक दें, तभी ग्रहण करते हैं, अन्यथा अन्न-जल लिए बिना विहार करते हैं। भूख-प्यास, गर्मी-सर्दी सहना श्रमणों की साधना का अंग है। प्राचीन ग्रन्थों में अंकित मिलता है कि श्रमण साधना तलवार की धार पर चलने के समान दुर्द्धर और बालू के ग्रास चबाने के समान नीरस एवं कठोर है। यात्रा करते हुए आचार्यश्री जब चन्देरी आए तो थूवौन क्षेत्र के दर्शनों की भावना हुई। चन्देरी से थूवौन १७ किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। आचार्यश्री ने संघ सहित थूवौन की ओर विहार किया, थूवौन में उन दिनों मैनेजर के अतिरिक्त कोई नहीं रहता था, समीपवर्ती ग्राम में एक भी श्रावक का घर नहीं है। चिड़ियों की चहचहाहट, समीप में बहती सरिता का कलरव गान, नितांत निर्जन क्षेत्र की आचार्य संघ ने वन्दना की और बिना आहार लिए उसी दिन चन्देरी लौट आये। आचार्यश्री परीषहविजयी संत हैं। थूवौन क्षेत्र पर उनके चरण पड़ने के पश्चात् क्षेत्र की कल्पनातीत प्रगति हुई।

इसी प्रवास में एक दिन आचार्यश्री तालवेहट जिन देवालय के बरामदे में खड़े थे। समीप ही एक कुँआ था उन्होंने देखा– ''एक बालिका पानी भरने आयी, साथ में एक परात भी लायी थी। आचार्यश्री उस बालिका को जिज्ञासा भरी दृष्टि से देखते रहे, उनकी दृष्टि में परात की उपयोगिता समझ में नहीं आ रही थी। दस-बारह वर्षीय बालिका ने घड़े को परात में रखा और दोहरे कपड़े से पानी छानकर भरा। परात में जो पानी गिरा और

छन्ने को धोकर पानी को कुँए में डाल दिया जिससे जलकाय जीवों की हिंसा न हो। आचार्यश्री यह देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए और उनके मुख से निकला। धन्य है बुन्देलखण्ड की माटी, जहाँ श्रमण-संस्कृति के संस्कार सुरक्षित हैं। अहिंसा की प्राण प्रतिष्ठा है। धन्य हैं वे माता-पिता जो अपनी सन्तान को ऐसे पावन संस्कार दे रहे हैं। विहारकाल की एक घटना है। आचार्यश्री ने सतना से दोपहर में बिना सूचना के विहार किया। जब सतना से दो-तीन किलोमीटर दूर पहुँचे, तब श्रावकों को ज्ञात हुआ कि आचार्यश्री का विहार हो गया। अपने-अपने साधन से लोग जंगल में पहुँचे। जंगल में आचार्यश्री के चरणों में कोई चावल चढ़ा रहा था कोई लौंगें, कोई बादाम। एक छोटा-सा बालक खड़ा हुआ था, उसको भी कुछ चढ़ाने की भावना हुई। शिशु को यह ज्ञात नहीं था कि क्या चढ़ाना चाहिए क्या नहीं? उस बालक ने अपने जेब से चाकलेट निकाले और आचार्यश्री के चरणों में चढ़ा दिये। आचार्यश्री अत्यन्त प्रसन्न हुए और बोले-

''अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्''

अपनी आवश्यकता की वस्तु का त्याग करना ही वास्तविक त्याग है, स्व के लिए जो अनुपयोगी है उस वस्तु का दान दान नहीं। इस घटना को आचार्य अनेक बार स्वयं अपने प्रवचन में दुहरा चुके हैं।

❑ ❑ ❑

कटनी से विहार कर आचार्यश्री कुण्डलपुर पहुँचे। कुण्डलपुर समुद्रतट से तीन हजार फीट ऊँची पर्वत मालाओं से घिरा हुआ है। पर्वतमाला कुण्डलाकार है। यहाँ का प्राकृतिक सौंदर्य अद्‌भुत है। जन विहीन इस पर्वतमाला पर पक्षियों का कलरव सदैव गूँजता रहता है। भूले-भटके श्रद्धालु, यात्रियों की पदचापें प्रकृति के निःशब्द संगीत के मध्य सुनाई पड़ती हैं। कुण्डलपुर के मध्य में वर्धमान सागर नाम का सरोवर है, जिसके तीनों ओर पर्वतमाला और चौथी ओर देवालयों की पंक्ति है। पर्वत पर ६० मन्दिर हैं। पर्वत पर एक देवालय में बड़े बाबा की बारह फुट छह इंच ऊँची और ग्यारह फुट चार इंच चौड़ी मूर्ति है। जो देवालय के गर्भ गृह में स्थित

है। गर्भगृह में उपलब्ध प्रमाणों और मूर्ति के केशों को देखकर, यह निर्विवाद रूप से प्रमाणित होता है कि यह प्रतिमा आदि तीर्थंकर ऋषभदेव भगवान् की है किन्तु बहुत लम्बे अन्तराल से अन्तिम तीर्थंकर महावीर के रूप में आराधना किये जाने के कारण जनमानस के हृदय और मानस में अन्तिम तीर्थंकर महावीर की प्रतिमा के रूप में प्रतिष्ठित हैं।

आचार्यश्री विद्यासागरजी ने प्रथम बार गर्भगृह में प्रवेश किया। आदि तीर्थंकर ऋषभदेव भगवान् के मुख पर सौम्यता, दिव्यता, भव्य स्मित है। मुख पर अद्भुत लावण्य, अलौकिक तेज और दिव्य आकर्षण है। प्रभु के वक्षस्थल पर श्रीवत्स सुशोभित है। कंधे पर जटाओं की दो-दो लटें दोनों ओर लटक रहीं हैं। पादपीठ के अग्रभाग में यक्ष गोमुख और यक्षणी चक्रेश्वरी देवी उत्कीर्ण हैं। यक्ष द्विभुजी है, उसके एक हाथ में परशु और दूसरे हाथ में बिजौरा फल है। यक्ष गोमुख है। दांयी ओर चक्रेश्वरी हैं, वह चतुर्भुजी है। उसके ऊपर के हाथों में चक्र है। दायां हाथ वरद मुद्रा में है और बायें हाथ में शंख है। आचार्यश्री प्रतिमा के दर्शन कर आत्मविभोर हो गए। वीतरागी प्रतिमा की छवि उनके हृदय में समा गई। सहसा मानतुंग आचार्य कृत भक्तामर उनके अधरों पर उतर आया-

भक्तामर-प्रणत-मौलि-मणि प्रभाणा,
मुद्योतकं दलित-पाप-तमोवितानम्।
सम्यक् प्रणम्य जिन-पाद-युगं युगादा,
वालंबनं भवजले पततां जनानाम्॥
यः संस्तुतः सकलवाङ्मय तत्त्वबोधा,
दुद्भूतबुद्धिपटुभिः सुरलोकनाथैः।
स्तोत्रै र्जगत् त्रितयचित्तहरैरुदारैः,
स्तोष्ये किलाहमपि तं प्रथमं जिनेन्द्रम्॥

भक्त देवों के विनत हुए मुकुटों में लगी हुई मणियों की प्रभा को प्रकाशित करने वाले, पापरूपी अन्धकार के विस्तार को नाश करने वाले, युगारम्भ में भवसमुद्र में घिरे हुए मनुष्यों के लिए सहायक, जिन युगल

चरणों में श्रद्धापूर्वक नमन करके सम्पूर्ण शास्त्रों के तत्त्व ज्ञान से प्रबुद्ध, इन्द्रों ने तीन लोक का चित्त हरने वाले, गंभीर-स्तोत्रों से जिन का स्तवन किया, मैं उन प्रथम जिनेन्द्र का स्तवन करता हूँ।

उपनिषद् कालीन ऋषियों की छवि, कुन्दकुन्द की आध्यात्मिकता आचार्यश्री में सहज परिलक्षित होती है। कमलवत् उज्ज्वल विशाल नेत्र, समुन्नत ललाट, स्वर्ण-पाटिल वर्ण की हथेलियाँ, मुस्कान की दीप्ति से आभायुक्त मुख-मण्डल, भाव-विभोर होकर आचार्यश्री आदि जिन का स्तवन करते रहे। गर्भ-गृह में उस दृश्य की मात्र कल्पना ही की जा सकती है। एक मुक्त, निर्वाण प्राप्त अरिहन्त, दूसरा निर्ग्रन्थ। एक आराध्य दूसरा आराधक, ''वन्दे तद्गुण लब्ध्ये'' की भावना से श्रद्धावनत है। एक अद्भुत दृश्य गर्भगृह में मूर्तिमान हो उठा और निर्ग्रन्थ आचार्य के अधरों से प्रस्फुटित हुआ, ''हे अरिहन्त! हे वीतराग! मैं आपकी कृतकृत्य जिनमुद्रा मूर्ति में मूर्तिमान साकार देख रहा हूँ। मैं यहाँ आत्मसाधना के लिए आया हूँ। हे आदि जिन! मैं आपकी चरण-शरण में हूँ।'' गर्भगृह में प्रकाश की अद्भुत आभा व्याप्त थी।

कुण्डलपुर तीर्थ पर आचार्यश्री ने चातुर्मास की स्थापना की और इसके साथ ही बुन्देलखण्ड की धरा धन्य हो गयी। सिद्धक्षेत्र को एक जीवन्त तीर्थ मिल गया, जिसकी पावनता की सुरभि से गंधायित होकर श्रमण-संस्कृति के आराधक एवं भारतवर्ष के अनेक विद्वान् कुण्डलपुर ही नहीं, सम्पूर्ण बुन्देलखण्ड के तीर्थों की रज शीश चढ़ा रहे हैं, जीवन्त तीर्थों के दर्शनों को आ रहे हैं। कुण्डलपुर के चातुर्मास की घटनाएँ अपने आप में इतिहास बन गई हैं।

कुण्डलपुर में वर्षावास की स्थापना के पूर्व एक ब्रह्मचारिणी बहिन को बिच्छू ने डंक मार दिया। विश्राम हेतु बिस्तर खोलते समय सर्पराज निकल आये और पकड़वा कर दूर जंगल में छुड़वाया। आचार्यश्री के आगमन के साथ ही कटनी से पंडित जगन्मोहनलालजी शास्त्री भी कुण्डलपुर आ गये थे। तीर्थ पर आवागमन के साधन नगण्य हैं। दस्युओं का भय,

निर्जन हिंसक-पशुओं से भरा समीपवर्ती जंगल, जीवन उपयोगी सामान्य वस्तुएँ भी उपलब्ध नहीं। स्थान असुरक्षित होने के कारण पंडित जगन्मोहनलालजी ने आचार्यश्री से कहा-''आचार्यश्री! इस स्थान पर चातुर्मास करना उचित नहीं, जंगल साँप-बिच्छुओं और हिंसक पशुओं से भरा है।'' और उन्होंने बिच्छू के काटने और सर्पराज के निकलने की घटना सुनाई।

आचार्यश्री ने कहा—''आप, सत्य कहते हैं कल मेरे सामने भी दो सर्प खेल रहे थे। परन्तु उससे चातुर्मास की स्थापना में क्या बाधा है? जंगली पशु-पक्षी जंगल में नहीं रहेंगे, तो कहाँ रहेंगे? यहाँ सामान्यजन भी रहते हैं, जिन्हें संसार से मोह है, निर्मोही साधुओं को यहाँ रहने में क्या कठिनाई है?'' पंडितजी क्या उत्तर देते? इसी चातुर्मास में क्षुल्लक समयसागरजी अस्वस्थ हो गये, वयोवृद्ध विद्वान् जगन्मोहनलालजी ने आचार्यश्री से अनुरोध किया—यहाँ चिकित्सा संभव नहीं है, समयसागरजी को चिकित्सा हेतु कटनी ले जाने की अनुमति दीजिए।''

आचार्यश्री ने कहा—''श्रावकों का अधिक सम्पर्क, श्रमणों के संयम में बाधक होता है।''

शास्त्रीजी ने कहा—''क्षुल्लक योगसागरजी को साथ में भेज दीजिए।''

आचार्यश्री ने कहा—अभी नहीं।

पंडित जगन्मोहनलालजी समयसागरजी को चिकित्सा हेतु कटनी ले गए। एक दिन सामायिक के बाद देखा समयसागरजी को ठण्डा पसीना आ रहा है। चिकित्सकों को बुलाया उन्होंने कहा नाड़ी का पता नहीं है हृदय भी ठीक से काम नहीं कर रहा, स्थिति गंभीर है। पंडितजी ने श्रमणों की आचार संहिता की परिधि में चिकित्सा कराई, परिणाम सुखद नहीं दिखा। इस समय पंडितजी को आचार्यश्री के शब्द ध्यान में आ रहे थे। ''श्रावकों का अधिक सम्पर्क श्रमणों के संयम में बाधक होता है''। अतः उन्होंने समयसागरजी से पूछा-''यदि आपका स्वास्थ्य नहीं सुधरता तो

आप क्या करेंगे?'' समयसागरजी ने शांतभाव से उत्तर दिया, ''सल्लेखना लेंगे।'' पंडितजी ने पुनः प्रश्न किया–''क्या पूरी तैयारी है?'' समयसागर जी ने कहा–''आप चिन्ता न करें पूरी तैयारी है, मैं मरण भय से मुक्त हूँ।''

तब पंडितजी ने कहा–आप मेरे साथ भक्तामर का पाठ कीजिए। समयसागरजी पंडितजी के साथ आदि जिन की स्तुति बोलने लगे। उन्हीं दिनों वर्धा शासकीय चिकित्सालय में कार्यरत वरिष्ठ चिकित्सक डॉ॰ निगम कटनी आये थे, उन्हें परीक्षण हेतु बुलाया। परीक्षण कर उन्होंने कहा इस स्थिति में तो रोगी को चेतना भी नहीं रहती, ये आत्मिक-शक्ति के कारण बोल रहे हैं।

डॉ॰ निगम से परामर्श करने के पश्चात् पंडितजी ने अपने पुत्र प्रमोद को पत्र देकर कुण्डलपुर आचार्यश्री के पास भेजा। लिखा कि समयसागरजी गंभीर रूप से अस्वस्थ हैं। चिकित्सक विवश हैं, समाधि काल निकट आ गया है। समाधि दिलाने साधु सारे नियम तोड़कर भी आ सकता है। आप यहाँ आयें। आचार्यश्री ने पढ़कर उत्तर दिया ''जाओ अपने पिताजी से कहना–कि वे स्वयं सक्षम हैं समाधि काल निकट हो तो समाधि करा दें।''

प्रमोद ने आचार्यश्री से कटनी चलने का बहुत आग्रह किया किन्तु आचार्यश्री ने एक ही उत्तर दिया–''पंडितजी सक्षम हैं वह समाधि करा देंगे।''

प्रमोद को आचार्यश्री का उत्तर सुनकर आवेश आया वह बोला–''आचार्यश्री आप बहुत कठोर हैं। समयसागरजी संघस्थ श्रमण हैं, आपके सबसे छोटे भाई हैं, आपको कटनी अवश्य चलना चाहिए।''

आचार्यश्री ने गंभीर और संयत भाषा में उत्तर दिया–''आप सीधी भाषा बोल रहे हैं; आपके पिताजी विद्वान् हैं उन्होंने पंडिताई भाषा में पत्र लिखा है दोनों का अर्थ एक है। मैं पिता-पुत्र दोनों की भाषा समझ रहा हूँ। दोनों का अर्थ एक है, जाओ पंडितजी से कहना वे गृहस्थ हैं और मैं साधु। नियमसागरजी वहाँ पहुँच चुके हैं, चाहो तो स्वरूपानन्दजी को साथ ले जाओ समाधि काल निकट है तो समाधि करा दें।'' पंडितजी ने समयसागरजी

की चिकित्सा कराई, आयु कर्म शेष था सौभाग्य से समयसागरजी स्वस्थ हो गये।

पंडितजी कुण्डलपुर आये और आचार्यश्री से कहा–''आचार्यश्री यह समझ में नहीं आया समयसागरजी के गंभीर रूप से अस्वस्थ होने पर भी आप कटनी क्यों नहीं आये?''

आचार्यश्री ने स्मित हास्य सहित कहा–पंडितजी! ''गृहस्थों और साधुओं के चिन्तन में अंतर होता है। समयसागर युवा हैं, भावनाओं का आवेग है, साधना काल है, यदि मुझे देखकर मोह उत्पन्न हो जाता तो उनकी समाधि नष्ट हो जाती। आचार्य ऐसा कोई कार्य नहीं करते कि निर्ग्रन्थों में ग्रन्थियाँ उत्पन्न हों।''

❑ ❑ ❑

''**भोगी जब सोता है योगी उन क्षणों में जागता है।**'' इस सूक्ति को चरितार्थ करते हुए निर्ग्रन्थ श्रमण आचार्यश्री रात्रि के अन्तिम प्रहर में सिद्धम् नमः, सिद्धम् नमः कहकर तन्द्रा का परित्याग करते हैं। तन्द्रा का परित्याग करने के बाद प्रतिक्रमण करते हैं। ''**प्रतिक्रम्यते प्रमादकृतै र्वसकादि दोषो निराक्रियन्ते अनेनेति प्रतिक्रमणं**'' साधक को अपनी जीवन यात्रा में कषायवश पद-पद पर अन्तरंग व बाह्य-दोष लगा करते हैं जिनका शोधन श्रेयोमार्ग के लिए आवश्यक है। भूतकाल में जो दोष लगे हैं, उनके शोधनार्थ प्रायश्चित, पश्चाताप अपनी निंदा करना प्रतिक्रमण कहलाता है। प्रतिक्रमण के तत्काल पश्चात् प्रत्याख्यान करते हैं। अतीत में हुए ज्ञात-अज्ञात दोषों की आलोचना करना और भविष्य में दोष न करने हेतु संकल्पित होना प्रत्याख्यान है। प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान श्रमणचर्या के आवश्यक अंग हैं। आगामीकाल में दोषों को न करने की प्रतिज्ञा प्रत्याख्यान है। वीतराग भाव से सापेक्ष किया गया प्रत्याख्यान ही वास्तविक है। प्रत्याख्यान एवं प्रतिक्रमण अन्तःकरण को पवित्र करके सामायिक की भूमिका में प्रवेश करने हेतु पथ-प्रशस्त करते हैं। शुद्ध अन्तःकरण के बिना सामायिक की कल्पना ही अर्थहीन है। सामायिक आत्मा के समीप ले

जाता है।

स्व-पर में राग व द्वेष रहित होना शत्रु-मित्र, मान-अपमान आदि में समभाव रखना, ये श्रमण के लक्षण हैं, उसे सामायिक कहते हैं। जो द्रव्य-गुण-पर्याय को सादृश्य तथा उनके एक जगह स्वतः सिद्ध रहने को जानता है, उसे सामायिक कहते हैं। राग-द्वेष भावों के कारण आत्मा में विकार उत्पन्न न होना, समस्त जीवों में समान भाव रखना, वास्तव में आत्म संयम, नियम, तप में लीन रहना सामायिक का लक्षण है।

सामायिक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। साम्य के प्रभाव से परस्पर बैर करने वाले जीव भी साम्यभाव को प्राप्त हो जाते हैं। सामायिक के पश्चात् सामायिकपाठ और स्वयंभूस्तोत्र का पाठ करते हैं। सामायिक पाठ आचार्य अमितगति की संस्कृत-भाषा में निबद्ध अमर कृति है। स्वयंभूस्तोत्र में चौबीसों तीर्थंकरों की श्रद्धा-भक्ति के समन्वित स्वर आचार्य समन्तभद्र की वाणी में मुखरित हुए हैं। इस आचार-संहिता का पालन आचार्यश्री अनुदित करते हैं। आचार्यश्री ने स्वकल्याण और लोककल्याण की भावना से प्रेरित होकर स्वयंभूस्तोत्र का हिन्दी काव्य रूपान्तर 'समन्तभद्र की भद्रता' शीर्षक से किया है।

श्री वृषभजिन स्तवन (वंशस्थ छंद)

स्वयम्भुवा भूत हितेन भूतले,
समञ्जस-ज्ञानविभूति चक्षुषा।
विराजितं येन विधुन्वता तमः,
क्षपाकरेणेव गुणोत्करैः करैः॥

हिन्दी काव्य रूपांतर (ज्ञानोदय छंद)

पर से क्रोधित नहीं हुए पर, स्वयं आप से बोधित हैं।
समकित संस्कृति, ज्ञान नेत्र पा, जग में जग हित शोभित हैं॥
विमोह तम को हरते प्रभु तुम, निज गुण-गण से विलसित हो।
जिस विधि शशि तम हरता शुचितम, किरणावलि से विकसित हो॥

रात्रि के अन्तिम प्रहर से लेकर प्रातः छह बजे तक प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, सामायिक पाठ के पश्चात्, सर्व संघ गुरुभक्ति करता है।

सूर्योदय के साथ ही पक्षियों का मधुर-कलरव गान प्रारंभ हो जाता है। रात्रि की निस्तब्धता टूटने पर कोलाहल और पदचापें स्पष्ट सुनाई देने लगती हैं। प्रकाश के सद्भाव में पथ स्पष्ट दिखाई देने लगता है, उसी समय ईर्यापथ का पालन करते हुए आचार्यश्री शौच क्रिया के लिए वन विहार करते हैं। सात बजे तक निवृत्त होकर आठ बजे तक स्वाध्याय करते हैं, साहित्य सृजन करते हैं। श्रद्धालु दर्शन करते हैं और आचार्यश्री के मंगल सान्निध्य में अपनी जिज्ञासाओं का समाधान पाते हैं।

प्रातः आठ बजे से नौ बजे तक प्राचीन गुरुकुल परंपरा का दृश्य जीवंत हो उठता है। आचार्य विद्यासागरजी आसन पर विराजते हैं, संघस्थ श्रमण, ऐलक, क्षुल्लक, संघस्थ साधक दोनों ओर बैठते हैं। भक्त जनों के प्रवेश पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। आचार्यश्री संस्कृत अथवा प्राकृत-भाषा में निबद्ध आगम ग्रन्थ की गाथाओं अथवा श्लोकों के शुद्ध उच्चारण कराते हैं। अर्थ समझाते हैं। वातावरण दिव्य और उन्मुक्त रहता है। कोई भी शिष्य अथवा श्रोता अपनी शंकाएँ निःसंकोच भाव से आचार्यश्री के सम्मुख रख सकता है और समाधान प्राप्त कर सकता है। धर्म-ग्रन्थों का रहस्य समझने के लिए भाषा-विज्ञान, व्याकरण के ज्ञान की अनिवार्यता समझते हुए आचार्यश्री भाषा एवं व्याकरण पढ़ाते हैं। आचार्यश्री हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, मराठी, कन्नड़ आदि भाषाओं के निष्णात विद्वान् हैं। अध्ययनकाल में श्रोता मंत्र-मुग्ध हो जाते हैं, समय का बोध ही नहीं रहता।

लगभग दस बजे के करीब चौबीस घण्टे में, एक बार प्रातः शुद्धि कर आहार चर्या के लिए निकलते हैं। कौतूहल में डूबे श्रद्धालुओं की भीड़ और कोलाहल बढ़ जाता है। शीश पर मंगल कलश लिए हाथों में श्रीफल लिए नर-नारी, युवा-युवतियों, बालकों की ध्वनि गूँजने लगती है। हे स्वामी! नमोऽस्तु, आहार जल शुद्ध है। परम्परागत भाषा में इसे पड़गाहन कहा जाता है। श्रावक नवधाभक्तिपूर्वक श्रद्धा सहित आहार देते हैं।

आचार्यश्री के तीन रसों का त्याग है। वह करपात्री हैं। खड्गासन-मुद्रा में अंजुलि से आहार लेते हैं। आहार के समय कोलाहल पूर्णतः शांत हो जाता है। दर्शनार्थियों की भीड़ लगी रहती है, निःशब्द, कहीं आहार में अन्तराय न आ जाए। आहार के पश्चात् कोलाहल लौट आता है और वातावरण आचार्यश्री की जयघोष से गूँज उठता है।

आहार के पश्चात् आचार्यश्री अल्पकाल के लिए बैठते हैं, संघस्थ श्रमण आहार से लौटकर नमन कर प्रत्याख्यान लेते हैं। तत्पश्चात् आहार और ईर्यापथ सम्बन्धी प्रतिक्रमण करते हैं। बारह बजे के उपरांत लगभग दो बजे तक सामायिक करते हैं। मैं अशरण हूँ, अनित्य और दुखमय पर रूप संसार में निवास करता हूँ और मोक्ष इसके विपरीत है। सामायिक आत्मा को निर्मल बनाने की वैज्ञानिक प्रक्रिया है। तीन बजे से आचार्यश्री शिष्यों को ज्ञान-दान देते हैं। जिस दिन मंगल-प्रवचन होता है उस दिन अध्ययन का अवकाश रहता है। प्रवचन सुनने जनसमूह उमड़ पड़ता है। नगरों में श्रोताओं की संख्या २५ से ५० हजार एवं पंच कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सवों में यह संख्या एक लाख के ऊपर पहुँच जाती है। किन्तु आचार्यश्री की मुद्रा भीड़ में अकेले होने का बोध कराती है।

शांत मुद्रा, अर्धउन्मीलित नेत्र, अकम्प पद्मासन मुद्रा, दिगम्बर वेष, आध्यात्मिक परितृप्ति से युक्त जीवंत प्रतिमूर्ति की उपस्थिति से वातावरण में निःशब्द संगीत बिखर जाता है। भीड़ को नियंत्रित करने की आवश्यकता नहीं होती। सभा मंडप में निःशब्द शांति रहती है। संगीत में गहरी रुचि, कवि, भाषाविद्, दुर्द्धर-साधक, तेजोमय तपस्वी ऋषि जब बोलते हैं, तब श्रोता मंत्रमुग्ध हो जाते हैं। श्रमण-संस्कृति में पंचपरमेष्ठी की आराधना का विधान है और आचार्यश्री प्रत्यक्ष परमेष्ठी हैं। प्रवचन के समय महिमा मंडित समवसरण का दृश्य उपस्थित हो जाता है। अध्यात्म की गूढ़तम ग्रन्थियाँ खुलती चली जाती हैं। प्रवचन के पश्चात् आचार्यश्री जयवंत हों, इस भावना से प्रवचन स्थल उनकी जयघोष से गूँज उठता है। सूर्यास्त के पूर्व प्रतिक्रमण, गुरुभक्ति, देव-वन्दना के स्वर गूँजने लगते हैं। सूर्यास्त के

साथ ही पुनः सामायिक का क्रम आरम्भ हो जाता है और अनवरत रात्रि को प्रथम प्रहर तक चलता है। पश्चात् विश्रामकाल प्रारम्भ हो जाता है। रात्रि में प्रकाशविहीन कक्ष में काष्ठासन या भूमि पर शयन करते हैं। ठण्डी शिशिर रात्रि में भी तन ढकने किसी वस्त्र का उपयोग नहीं करते। रात्रि के अन्तिम प्रहर से श्रमणचर्या पुनः प्रारम्भ हो जाती है।

आत्मा मात्र भाव करती है। प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, सामायिक अन्तर्जगत् में चलने वाली प्रक्रिया है, अमूर्त है इसलिए शब्दातीत है। आचार्यश्री की एक दिन की चर्या अनुदिन की चर्या है।

आचार्यश्री महान् तपस्वी हैं। कभी कायोत्सर्ग-मुद्रा में, कभी पद्मासन में तीन-तीन दिन तक सामायिक में लीन रहते हैं। बाह्य-जगत् से सम्पर्क टूट जाता है। आचार्यश्री की साधना शब्दातीत है, उसे शब्दों में अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। प्रत्यक्षदर्शी ही उस अनुभूति से अभिभूत हो सकता है।

आचार्य विद्यासागरजी ने मध्यप्रदेश में कुण्डलपुर में प्रथम चातुर्मास की स्थापना की और प्रथम चातुर्मास की घटनाएँ ही अविस्मरणीय बन गई।

प्रथम चातुर्मास के प्रारम्भिक दिनों में अस्वस्थ थे। एक दिन आचार्यश्री की आँखों में पीड़ा थी। एक ब्रह्मचारीजी जिन्हें चिकित्सा सम्बन्धी कोई ज्ञान नहीं था उन्होंने आचार्यश्री की आँखों में चन्दन डाल दिया। आँखों में खून उतर आया सभी घबरा गये। वैद्यजी आये और बोले किस नासमझ ने आँखों में चंदन का तेल डाल दिया। असहनीय पीड़ा थी। नेत्र विशेषज्ञों ने कहा-चश्मा लगाना अनिवार्य है। आचार्यश्री ने कहा-ईर्या-समिति के पालन करने के लिए चार हाथ आगे भूमि देखकर चलने का प्रावधान है और उतना मुझे दिखता है।

कुण्डलपुर में आचार्यश्री पहाड़ पर जाने के मार्ग में एक देवालय के बाहरी भाग में विराजमान रहते और सामायिक आदि के पश्चात् अध्ययन और लेखन कार्य करते। दर्शनार्थियों के आने-जाने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं

होता। कोई भी व्यक्ति उनके समीप जा सकता है और शंकाओं का समाधान प्राप्त कर सकता है। आचार्यश्री के समीप वातावरण सरस, निश्छल और मुक्त रहता है।

एक सज्जन आये और बोले–''आचार्यश्री! मैं यह जानने के लिए आतुर हूँ कि आपको अल्प आयु में वैराग्य कैसे हुआ? मैंने जीवनपर्यन्त जैन ग्रन्थों का स्वाध्याय किया, शास्त्र प्रवचन करता हूँ किन्तु रात्रिभोजन का त्याग और पानी छानकर पीना भी कष्टप्रद लगता है। मेरी आयु लगभग अस्सी वर्ष की हो गई है।'' आचार्यश्री लेखन कार्य में व्यस्त थे अतः उन्होंने संक्षेप में उत्तर दिया–''**वीतराग से राग हो गया इसलिए संसार से वैराग्य हो गया।**'' ''वृद्ध सज्जन आचार्यश्री के उत्तर से संतुष्ट नहीं हुए और बोले, मेरी जिज्ञासा शांत नहीं हुई।'' आचार्यश्री लेखन कार्य में व्यस्त थे ही उन्होंने वही उत्तर फिर दोहराया। किन्तु जब वह संतुष्ट नहीं हुए तो आचार्यश्री ने कहा–''मुझे वैराग्य संसार के रोते हुए प्राणियों को देखकर हुआ। यदि संसार में सुख होता तो आप असन्तुष्ट, अतृप्त और चिन्ताग्रस्त न होते। यह सांसारिक रोग है और मैं इन रोगों से पीड़ित न हो जाऊँ। यह पंचमकाल है और पंचमकाल में मुक्ति नहीं होती, इसका बहाना बनाकर आप चतुर्थकाल की प्रतीक्षा कर रहे हैं और चतुर्थकाल लौटने वाला नहीं।'' सुनकर वृद्ध सज्जन उपकृत हुए और बोले–''मैं उपकृत हुआ। अब आयु बहुत कम शेष रह गई है संयम के पथ पर चलने का प्रयत्न करूँगा।''

इसी प्रकार एक सज्जन इन्दौर से आये, कुछ दिन कुण्डलपुर में रहे, उन दिनों आचार्यश्री के प्रवचन नहीं हो रहे थे। जब इन्दौर लौटने लगे तब आचार्यश्री के दर्शनों को गये और बोले–''आचार्यश्री! आपके दर्शनों की कामना बहुत दिनों से थी। पूर्ण हुई किन्तु आपकी अमृतवाणी नहीं सुन सका। मुझे केवल धर्म की परिभाषा समझा दीजिए। धर्म की अनेक परिभाषाएँ प्रचलित हैं किन्तु आचार्यश्री ने किसी भी परिभाषा का सहारा नहीं लिया और बोले– ''जो आपको आज तक अच्छा नहीं लगा वह धर्म

है और आज तक अच्छा लगा वह अधर्म है।''

सरलतम शब्दों में ऐसे चिन्तन की अभिव्यक्ति कोई आत्म-शिल्पी दार्शनिक ही कर सकता है।

जैनदर्शन अथवा भारतीयदर्शन के किसी भी विषय पर आचार्यश्री से चर्चा सहज ही की जा सकती है। आचार्यश्री अत्यन्त सरल, निश्छल और मधुर स्वर में चर्चा करते हैं। उनका निर्ग्रन्थ-हास्य, सीधा हृदय को स्पर्श करता है। आचार्यश्री कहते हैं, चर्चा करने वाले की आँखें बता देती हैं कि वह किस हेतु चर्चा करने आया है? एक दिन संध्या में जैनदर्शन के प्रसिद्ध विद्वान् आये और आचार्यश्री से बोले-''मैं जैनदर्शन के कतिपय विवादास्पद विषयों पर चर्चा करना चाहता हूँ, मेरी कुछ शंकाएँ हैं, कृपया समाधान कीजिए।'' आचार्यश्री के अधरों पर स्वाभाविक-हास्य उत्तर आया और बोले-''जैनदर्शन में मुझे तो कोई शंकास्पद स्थान दिखाई नहीं देता पूछिये।'' विद्वान् सज्जन ने प्रश्न किया-''सम्यग्दर्शन किस गुणस्थान में प्राप्त होता है? वर्तमान अवस्था में आत्मा शुद्ध है या अशुद्ध? क्या वर्तमानकाल में मुक्ति सम्भव है?''

आचार्यश्री ने कहा– ''पंडितजी, आप तो जैनदर्शन के विद्वान् हैं, सूर्यास्त होने को है, मेरा मौन काल प्रारम्भ होने जा रहा है। आपके प्रश्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। विस्तार से चर्चा करेंगे। आप प्रथम मेरी एक सामान्य शंका का समाधान कीजिए।'' पंडित जी आश्चर्यचकित होकर आचार्यश्री की ओर देखने लगे और बोले-''नहीं आचार्यश्री! मैं भला आपकी शंका का समाधान क्या करूँगा?''

आचार्यश्री ने कहा– ''वास्तव में कोई शंका नहीं एक सामान्य प्रश्न है और आप उसका उत्तर जानते हैं।''

पंडितजी ने कहा–''यदि मुझे उत्तर ज्ञात होगा तो अवश्य दूँगा।''

आचार्यश्री ने पूछा–''जिस व्यक्ति को पाँच पापों और सप्त व्यसनों का त्याग नहीं होता, वह व्यक्ति किस गति में जाता है?''

पंडितजी ने उत्तर दिया–''जिसके पाँच पापों का त्याग नहीं सप्त

व्यसन करता है वह मरकर निश्चित नरकगति में जाता है।''

आचार्यश्री ने पुनः प्रश्न किया–''क्या आपका पाँचों पापों और सप्त व्यसनों का त्याग है?''

पंडितजी ने कहा– ''नहीं।''

आचार्यश्री ने कहा– ''जब नरक में ही जाना है तो मुक्ति का मार्ग पूछकर क्यों अपना समय बरबाद करते हो?''

पंडितजी ने आचार्यश्री के चरण पकड़ लिए। सत्य तो यह है कि वह आचार्यश्री की परीक्षा लेने आये थे।

आचार्यश्री विद्यासागरजी के कुण्डलपुर में वर्षावास की स्थापना के पश्चात् कुण्डलपुर में सदियों पुरानी नीरवता टूटी और जिस निर्जन-क्षेत्र में मानव पदचापें तक कभी स्पष्ट सुनाई नहीं पड़ती थीं, वहाँ मेले का दृश्य उपस्थित होने लगा। प्रतिदिन सैकड़ों यात्री और प्रवचन के दिन हजारों यात्री क्षेत्र के और आचार्यश्री के दर्शनों को आने लगे। धर्मरत्न श्रेष्ठी साहू श्रेयांसप्रसादजी भी बम्बई से आचार्यश्री के दर्शनों को आये और लौटकर उन्होंने ''बुन्देलखण्ड की दो उपलब्धियाँ'' शीर्षक से लेख लिखा।

''मेरी दूसरी उपलब्धि है तरुण जैनाचार्य श्री विद्यासागरजी का सान्निध्य। एक ऐसे आचार्यश्री से साक्षात्कार हुआ जिनके मुखमण्डल की मुस्कुराहट और प्रवचन करने का ढंग, चुम्बक-सा खींच लेता है। वे अपनी सरल, मृदु, सहज-वाणी से शंकाओं का समाधान करते हैं। वस्तुतः तर्क से अतर्क में लाने का उनका दृष्टिकोण उत्कृष्ट है। तर्क को वे व्यर्थ का अवकाश नहीं देते। मात्र उतना ही हाँसिया देते हैं, जहाँ तक वह तत्त्व दर्शन में उपकारक होता है, उसके प्रति उनका आग्रह नहीं होता। शुद्ध, विशाल, व्यापकदृष्टि सम्पन्न, ये आध्यात्मिक साधु बरबस अपनी ओर खींच लेते हैं। इनके दर्शन से वस्तुतः मैं बहुत ही कृतकृत्य हुआ हूँ।''

कुण्डलपुर सिद्धक्षेत्र पर आचार्यश्री की साधना अनवरत चलती रही। जैन-साहित्य विपुल और विशाल है। सम्पूर्ण आगम साहित्य प्राकृत-भाषा में निबद्ध है। हिन्दुओं की सर्वमान्य गीता, क्रिश्चियनों की बाईबिल

और इस्लाम धर्म का कुरान की भाँति, जैनियों का कोई एक प्रतिनिधि धर्म ग्रन्थ नहीं है। श्रुत साहित्य विशालता के कारण जैनदर्शन जन-जन तक नहीं पहुँच सका। स्वर्गीय महान् संत विनोबाभावेजी की भावना थी कि विशाल जैन-साहित्य में प्रतिनिधि गाथाएँ चुनकर जैनसिद्धान्तों के प्रतिनिधि-ग्रन्थ का निर्माण हो, जिससे इस बहूमूल्य ज्ञान से, प्राकृत-भाषा से अनभिज्ञ जन भी लाभान्वित हो सकें। सुप्रसिद्ध विद्वान् क्षुल्लक श्री जिनेन्द्र वर्णी ने 'समणसुत्तं' शीर्षक से इस ग्रन्थ का संकलन एवं सम्पादन किया और गाथाओं का हिन्दी में गद्य अनुवाद पंडित कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री ने किया। आचार्यश्री विद्यासागरजी ने इस 'समणसुत्तं' ग्रन्थ का काव्य रूपान्तर मात्र साढ़े सात माह में किया और नाम दिया 'जैन गीता'। आचार्यश्री अपने पूज्य गुरुदेव ज्ञानसागरजी को कभी विस्मरण नहीं कर पाते। उनके प्रति अपने श्रद्धा-सुमन अर्पित करते हुए लिखा है-

मैं आपकी सदुपदेश सुधा न पीता।
जाती लिखि न मुझसे यह जैन गीता॥

देश के सुप्रसिद्ध विद्वान् कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री जिन्होंने समणसुत्तं की प्राकृत गाथाओं का गद्य रूपांतर किया था, आचार्यश्री के दर्शनों को कुण्डलपुर आए। उनकी दृष्टि में दिगम्बर-श्रमणों की चर्या अनगारधर्म संहिता के अनुकूल नहीं है, इसलिए उनकी गणना दिगम्बर श्रमणों के आलोचक के रूप में की जाती थी, किन्तु कुण्डलपुर में आचार्यश्री के दर्शन कर उनकी भ्रांति दूर हुई और साधु शब्द की व्याख्या करते हुए उन्होंने लेख लिखा- ''परिग्रह के त्याग का मतलब केवल शरीर से नग्न रहना नहीं है। साधु के पास पिच्छिका-कमण्डलु और एक दो शास्त्र जो स्वयं लेकर चल सकें, होना चाहिए। आज संघों के नाम पर परिग्रह का कोई परिमाण नहीं है। मानो दिगम्बर-साधु न होकर महन्तों का कोई अखाड़ा हो।''

''आज के अपने गुरुजनों की इस प्रकार की विडम्बना को देखकर मेरा मन यह बन गया है कि इस काल में सच्चा दिगम्बर जैन-साधु होना

सम्भव नहीं है किन्तु जब से आचार्यश्री विद्यासागरजी के दर्शन किये हैं मेरा उक्त मत परिवर्तित हुआ है और मन कहता है कि उपादान सशक्त हो तो निमित्त कुछ नहीं करते।''

''भरी जवानी में ऐसी असंगता? मैंने ऐसे भी मुनि देखे हैं जिन्हें स्त्रियाँ घेरे रहती हैं। जो तेल-मर्दन कराते हैं, उनकी बात तो छोड़िये। उनसे वार्तालाप में रस लेते हैं, किन्तु युवा मुनिराज विद्यासागरजी तो हम लोगों से भी वार्तालाप नहीं करते। सदा अध्ययन में रत रहते हैं। मैंने वहाँ गप्प गोष्ठी होते नहीं देखी। राव-रंक सब समान हैं। परिग्रह के नाम पर पिच्छिका-कमण्डलु हैं। जब विहार करना होता है उठकर चल देते हैं। न जहाँ से जाते हैं उन्हें पता है, न जहाँ पहुँचते हैं उन्हें पता। न गाजे-बाजे स्वागत की चाह है न साथ में मोटर, लारी और न चौकों की बहार है। न कोई माताजी साथ में। बाल शिष्य-मण्डली है।''

''मैंने किसी मुनि के मुख से ऐसा भाषण भी नहीं सुना। एक एक वाक्य में वैदुष्य झलकता है। अध्यात्मी कुन्दकुन्द और दार्शनिक समन्तभद्र का समन्वय मैंने उनके अनेक भाषणों में सुना है। मुझे उन्हें आहारदान देने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है और मैंने प्रथम बार अपने जीवन को धन्य माना है। यदि संसार, शरीर और भोगों से आसक्त श्रावकों के मायाजाल से बचे रहे तो आदर्श मुनि कहे जायेंगे।''

''मैं भी पंच नमस्कार जाप त्रिकाल करता हूँ और ''णमो लोए सव्वसाहूणं'' जपते समय वे मेरे मानस पटल पर विराजमान रहते हैं जिनका मन आज के कतिपय साधुओं की स्थिति से खेदखिन्न होकर ''णमो लोए सव्व साहूणं'' पद से विरक्त हुआ है उनसे हमारा निवेदन है कि एक बार आचार्य श्री विद्यासागरजी का सत्संग करें। हमें विश्वास है कि उनकी धारणा में परिवर्तन होगा।''

❑ ❑ ❑

कुण्डलपुर के एक देवालय में आचार्यश्री सामायिक में लीन थे। अकम्प दीप-शिखा के समान स्थिर-दृष्टि नासिका पर थी। सूर्योदय का

समय था, कक्ष के द्वार बन्द थे। वातायनों से रश्मियाँ प्रवेश कर उनकी देह पर बिखर रही थी। आचार्यश्री आत्मा की असीम, अगम्य गहराईयों में उतर कर प्रज्ञा के अनन्त रहस्यों को खोज रहे थे। स्व के समीप होना ही सामायिक है। शाश्वत, अनन्त और अरूपी आत्मा, दृष्टि का विषय नहीं, वह देखी नहीं जा सकती, उसकी चेतना अनुभूत की जा सकती है।

आचार्यश्री का बाह्य जगत् से सम्पर्क टूट चुका था। उनकी चेतना, चेतना के केन्द्र पर ठहरी हुई थी। आत्म केन्द्रित थी। सामायिक के इन्हीं क्षणों में आधुनिक-परिवेश और भौतिक मानसिकता में डूबा एक युवक कौतूहलवश आचार्यश्री के दर्शनों को कुण्डलपुर आया। पूछने पर ज्ञात हुआ कि आचार्यश्री सामायिक में है और सामायिक के पश्चात् ही दर्शन हो सकेंगे।

आचार्य विद्यासागरजी की साधना की कीर्ति सुनकर वह युवक आया था। वह चाहता था कि आचार्यश्री के अविलम्ब दर्शन हो इसी भावना से उसने देवालय के एक गवाक्ष से झांका। पद्मासन मुद्रा में साधनारत आचार्यश्री के दर्शन कर वह आश्चर्यचकित रह गया। उनके चारों ओर प्रकाश का आभामंडल बना हुआ था। ज्योतिवलय को देखकर वह विस्मय में डूब गया, कुछ क्षण पश्चात् उसे लगा जैसे कोई प्रखर ज्योति उसकी दृष्टि में प्रवेश करती चली जा रही है। वह विस्मित विमुग्ध हो देखता रहा, देखता रहा। शृंगारविहीन एक दिगम्बर देह में इतना आकर्षण हो सकता है, इसकी उसने कल्पना भी नहीं की थी। दर्शन मात्र से उसकी चेतना रूपान्तरित हो गई दृष्टि बदल गई। वह सोचने लगा भौतिक सुखों को तो संसार के सभी प्राणी भोग रहे हैं, वासना में यदि सुख है, तो वह सुख तो पशुओं को भी प्राप्त है।

पंच इन्द्रिय से भोगा जाने वाला सुख क्या सुख नहीं है? देह की संवेदना के पार भी कोई सुख है। उसकी उसे कल्पना भी नहीं थी उसके हृदय में अनेक प्रश्नों ने जन्म लिया। उसका वैज्ञानिक मन क्षणभर में दार्शनिक बन गया। ''मैं आचार्यश्री से अपरिचित हूँ। प्रथम बार दर्शन

किये हैं, वाणी भी अभी तक नहीं सुनी, पर मन इनकी ओर इतना आकर्षित क्यों हो रहा है? क्या है इनके पास? मात्र दिगम्बर मुद्रा। मैं क्या चाहता हूँ? देने को इनके पास है भी क्या! मात्र पिच्छिका-कमण्डलु और शास्त्र के अतिरिक्त इनके समीप कुछ भी तो नहीं है। क्या सब कुछ खोकर ही सब कुछ पाया जा सकता है? ये नया मंत्र, ये नया विचार मुझे क्यों उद्वेलित कर रहा है? सूर्य दूरस्थ, अदृश्य हो, वैज्ञानिकों को भी उसकी दूरी का ज्ञान नहीं फिर भी रश्मियाँ वसुधा को प्रकाश से आलोकित कर रही हैं। सूर्य से कोई आँख नहीं मिला सकता। वैसे ही इस दिगम्बर मुद्रा के प्रकाश पर मेरी दृष्टि ठहरती नहीं, किंतु मेरे अन्तःकरण में प्रवेश करती चली जा रही है, मुझे आलोकित कर रही हैं, मुझसे पूछ रही हैं इस संसार में जन्म के द्वार से आया है। क्या मृत्यु के द्वार से लौट जायेगा? सहसा श्रद्धा से हाथ जुड़ गये मस्तक झुक गया। हे स्वामी! नमोऽस्तु कहकर लौटा। वह सोचने लगा यह दिगम्बर आचार्य की साधना का प्रभाव है या भावनाओं का अतिरेक, वह निर्णय नहीं कर पा रहा था।

निर्ग्रन्थ श्रमण की सम्पूर्ण देह और उसके चारों ओर देखा आभामंडल ज्योतिवलय और उसकी दृष्टि में प्रवेश करती हुई ज्योति ने उसे मंत्र कीलित-सा कर दिया था। वह आचार्यश्री के दर्शनों की प्यास लेकर आया था, अब सामीप्य पाने हेतु व्याकुल हो उठा। उसने सोचा-"आचार्यश्री की सामायिक पूर्ण हो इसके पूर्व मैं बड़े-बाबा के दर्शन कर आऊँ।"

वह कुण्डलगिरि की सीढ़ियाँ चढ़ता गया, चढ़ता गया, पता भी नहीं चला कब वह बड़े-बाबा की गुफा (गर्भगृह) में प्रवेश कर गया।

कुण्डलपुर में बड़े-बाबा के नाम से प्रसिद्ध मूर्ति अन्तिम तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर की है। गर्भ-गृह में प्रवेश करते ही उसने श्रद्धा से हाथ जोड़े और महावीराय नमः कहा। किन्तु प्रतिमा पर दृष्टि पड़ते ही वह चौक उठा, प्रतिमा के कांधे तक केश-राशि बिखरी हुई है। प्रतिमा के अधोभाग के नीचे उनका यक्ष गोमुख एक यक्षिणी चक्रेश्वरी देवी अंकित थी उसने पुनः हाथ जोड़े और कहा-श्री ऋषभाय नमः श्री आदिनाथाय नमः।

गर्भगृह कृत्रिम प्रकाश से जगमगा रहा था। भक्तिभाव से नर-नारी तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर की आराधना कर रहे थे।

हे महावीर! अनुपम शिल्पी।
जैसा तुमने निज गढ़ा रूप॥
मैं अर्घ्य चढ़ाकर अभिलाषी।
वैसा पाऊँ मैं विमलरूप॥

युवक की दृष्टि प्रतिमा पर केन्द्रित हो गई–वह प्रस्तर प्रतिमा शिल्पी की अनुपम-अद्भुत कृति है। वह उस वीतराग प्रतिमा के शिल्प कौशल और वीतरागता से प्रभावित होकर अपलक उस कृति की ओर देखता रहा, देखता रहा, सहसा उसके हृदय में एक अभिनव-विचार ने जन्म लिया, इस देवालय में स्थित प्रस्तर-प्रतिमा और तल के देवालय में साधनारत सांसों के स्पन्दन वाली कृति में कितना साम्य है। वह भी दिगम्बर, यह भी दिगम्बर। यह भी वीतराग, वह भी वीतराग। यह साध्य है, अन्तिम उपलब्धि और वह साधना का अन्तिम चरण है। इस मूर्ति में बैठा मूर्तिमान अपने गन्तव्य को पा चुका है और वह स्थिति को पाने हेतु साधनारत है।

वह आचार्यश्री विद्यासागरजी के सान्निध्य पाने व्याकुल हो उठा। आचार्यश्री सामायिक पूर्ण कर संघस्थ-श्रमणों को अध्ययन कराने चले गये। पश्चात् शुद्धि कर आहार-चर्या को निकल गये। उस युवक की व्याकुलता समय के साथ बढ़ती चली गई। मध्यान्तर में सामायिक के पश्चात् वह आचार्यश्री का मंगल सान्निध्य पा सका।

आचार्यश्री का चरण वन्दन कर और नमोऽस्तु अर्पित कर बोला – ''गुरुदेव! मैं विज्ञान का विद्यार्थी हूँ।'' आचार्यश्री अत्यन्त प्रसन्न मुद्रा में थे–''बोले, तुम भौतिक-विज्ञान के विद्यार्थी हो और मैं वीतराग-विज्ञान का हूँ। मैं भौतिक-जगत् की समस्त वस्तुओं का परित्याग कर चुका हूँ। बोलो क्या चाहते हो?'' युवक की धारणा थी कि अन्य आचार्यों की भाँति वे व्रत-नियम लेने की स्वयं प्रेरणा देंगे, आग्रह करेंगे पर उसे नया अनुभव हुआ। यह तो कुछ परित्याग करने को कह ही नहीं रहे, अपितु मुझसे ही पूछ

रहे हैं क्या चाहते हो? भौतिक संस्कारों में, सम्पन्नता के बीच पला युवक यह सोच भी नहीं सका कि ये क्या देंगे? क्या मांगूँ और इनके पास देने को कुछ है भी क्या? कुछ क्षण के लिए युवक गहरी विचार तंद्रा में डूब गया और बोला, ''गुरुदेव! मैं क्या मांगूँ आप जो देना चाहते हो वही दे दो।''

आचार्यश्री के अधरों पर मन्द-हास्य उतर आया और वह बोले- ''तुझे पता है, मेरे पास देने के लिए क्या है?'' युवक निरुत्तर था। आचार्यश्री और वह युवक कुछ क्षण मौन रहे। मौन की उस निःशब्दता को आचार्यश्री ने तोड़ा ''वत्स! मैं निर्ग्रन्थ-श्रमण हूँ, भौतिक उत्कर्ष के लिए कुछ चाहता हो तो मेरे पास देने को कुछ भी नहीं है, लौट जा। आत्मज्ञान की वर्णमाला के अक्षर सीखना चाहते हो। जन्म-मृत्यु के बंधन से मुक्त होना चाहते हो तो सर्वज्ञ प्रणीत वीतराग-विज्ञान ही मेरे पास है, वही मैं तुझे दे सकता हूँ।''

मेरा सान्निध्य, शब्द से निःशब्द की ओर ले जाता है। राग से विराग की ओर ले जाता है। लौकिक-दृष्टि से देखने में यह दुष्कर, नीरस, कष्ट साध्य यात्रा है और एकाकी भी। भीड़ में भी अकेले रहने का अभ्यास करना होगा। यदि साधना सध गई, तो परम आनन्ददायी है। मैं ज्ञात से अज्ञात की ओर यात्रा कराता हूँ और जो संकल्पपूर्वक इस यात्रा में आनन्द का अनुभव करते हैं वह जन्म-मृत्यु के बंधन से विमुक्त हो जाते हैं। परम-तत्त्व को प्राप्त कर लेते हैं। जैनदर्शन में आत्मा की शुद्धतम-अवस्था को ही, परमात्मा की संज्ञा प्राप्त है। बोल-''क्या मेरे पथ का पथिक बनना चाहता है?'' युवक ने भावावेश में आचार्यश्री के चरण पकड़ लिए और बोला-''गुरुदेव। मैं मुक्ति के पथ का यात्री बनने का संकल्प लेता हूँ।''

गुरुदेव आचार्यश्री ने उस युवक को मार्गदर्शन प्रदान किया और निर्देश दिया घर लौट जाओ। ''मेरे निर्देश के अनुसार साधना सध जाये तो मेरे पास लौट आना मैं तुम्हें दीक्षा प्रदान करूँगा।''

संस्कृति का मेला था।
भीड़ में अकेला था ॥

श्रमण संस्कृति का महान् तीर्थ रेशन्दीगिरि निर्वाणक्षेत्र वर्तमान में नैनागिरि के नाम से प्रसिद्ध है। यह क्षेत्र अपनी प्राकृतिक सुषमा के साथ आध्यात्मिक साधना का केन्द्र रहा है। यहाँ मूलनायक तीर्थंकर पार्श्वदेव की मनोज्ञ प्रतिमा दर्शकों को बरबस आकर्षित करती है। यह स्थान निरापद नहीं है। बियावान विजन है। आखेट की दृष्टि से उत्तम समझा जाता है। भयंकर दस्युओं का इलाका है। आवागमन के साधन सीमित हैं। साधन विहीन स्थान, निर्जन वन सम्पत्ति और जीवन की सुरक्षा के भय से ग्रसित श्रद्धालु दर्शन करके रात्रि होने से पूर्व दर्शन कर लौट आते थे। ऐसे असुरक्षित क्षेत्र पर आचार्यश्री ससंघ पधारे। उनकी साधना की कीर्ति सुनकर उस क्षेत्र के शिकारियों ने घोषणा की, ''जब तक आचार्यश्री क्षेत्र पर विराजमान है, हम हिंसा नहीं करेंगे। दस्युओं ने घोषणा की कि जब तक आचार्यश्री नैनागिरि में विराजमान हैं चोरी, डकैती की कोई घटना नहीं होगी।'' आचार्यश्री के चरण पड़ते ही रेशन्दीगिरि निरापद हो गया। वह निर्जन स्थान जहाँ नीरवता व्याप्त थी, वहाँ मानव पदचापों की ध्वनि और जीवन का कोलाहल सुनाई पड़ने लगा।

श्रमण-संस्कृति के आराधकों को ज्ञात हुआ कि १० जनवरी, १९८० को दीक्षा समारोह होने जा रहा है। इस पावन दृश्य को देखने के लिए जनसमूह उमड़ पड़ा। निर्जन वन में स्थित तीर्थ और जीवन्त तीर्थ के दर्शनों के लिए हजारों दर्शनार्थी आ रहे थे। सभी में कौतूहल व्याप्त था, यह जानने के लिए कि वे कौन से भाग्यशाली साधक हैं जिन्हें आचार्यश्री दीक्षा देने जा रहे हैं।

सूर्योदय की मंगल बेला में आचार्यश्री पर्वत पर भक्तों की भीड़ से घिरे हुए थे। भीड़ में से एक युवक ने आकर चरण वन्दना की और विनम्र स्वर में कहा –''गुरुदेव! मुझे अपने पवित्र संघ में रहने की अनुमति प्रदान कीजिए। मैंने आजीवन गृह-त्याग का निश्चय कर लिया है। मैं आपकी चरण-शरण में रहने की अनुमति चाहता हूँ।''

आचार्यश्री ने उस युवक की ओर स्नेहिल दृष्टि से देखा वह उस

युवक और उसकी साधना से परिचित थे।

आचार्यश्री के अधरों पर मन्द-हास्य उतर आया और युवक को सम्बोधन कर बोले-"क्यों केशलोंच कर लोगे।" उस युवक ने कहा- "निश्चित ही कर लूँगा।" आचार्यश्री ने कहा-जाओ और केशलोंच कर आओ। आचार्यश्री को विश्वास था कि इस युवक के परिवार के सदस्य यहीं हैं, वे इस युवक को समझा कर निश्चित ही घर लौटा ले जायेंगे।

यह युवक प्रथम बार केशलोंच कर रहा है केश उखाड़ने में पर्याप्त समय लग जायेगा और इस अवधि में स्थिति स्पष्ट हो जायेगी।

युवक वीरेन्द्र सिंघई के पिता श्रेष्ठी श्री सिंघई जीवनकुमार जी को जब ज्ञात हुआ कि आचार्यश्री उनके पुत्र को दीक्षा दे रहे हैं तो वह आचार्यश्री के पास गये और बोले-"गुरुदेव! क्या आप मेरे पुत्र वीरेन्द्र को दीक्षा दे रहे हैं? वह आधुनिक संस्कृति में पला है, एम० टेक० तक शिक्षा ग्रहण की है, क्या दीक्षा देना सार्थक होगा?"

आचार्यश्री के अधरों पर स्वभाविक हास्य उतर आया और वीरेन्द्र सिंघई की ओर संकेत करते हुए बोले- "वह रहा आपका पुत्र जो पूछना है उसी से पूछ लीजिए।" श्री सिंघई जीवनकुमारजी और उनकी पुत्री वीरेन्द्र के समीप गये। जीवनकुमारजी ने कहा-"पुत्र वीरेन्द्र! यह क्या नादानी कर रहे हो! दिगम्बर दीक्षा इतनी सरल नहीं है। जैन शास्त्रों में लिखा हैं यह तलवार की धार पर चलने के समान कष्टप्रद और बालू के ग्रास चबाने की तरह नीरस और कठोर है। दीक्षा का विचार छोड़ दो और घर लौट चलो।" किन्तु वीरेन्द्र मौन था, जैसे उसे पिता के शब्द सुनाई ही नहीं पड़ रहे हों। उसकी चेतना उस क्षण देह की संवेदनाओं से बहुत दूर चली गई थी। युवा वीरेन्द्र सिंघई को तेल युक्त स्निग्ध केशों को उखाड़ना कष्टपूर्ण और श्रम साध्य कार्य था किन्तु वीरेन्द्र केश उखाड़ता रहा। अविचल नेत्र बंद किये। प्रतीत होता था, जैसे बाह्य जगत् से उसका सम्बन्ध टूट चुका है और उसकी चेतना अतीन्द्रिय सुखों की खोज में अमूर्त और अदृश्य प्रदेशों में प्रवेश कर गई है। उसके पिता विरक्त जीवन के कष्टों का वर्णन करते रहे किन्तु ज्ञात

नहीं उसे अपने जन्मदाता के शब्द सुनाई भी पड़ रहे थे या नहीं? केशलोंच करने में उसे लगभग तीन घंटे लगे।

१० जनवरी,१९८० को मध्याह्न में दीक्षा समारोह प्रारम्भ हुआ। छह साधकों को दीक्षा प्रदान की गई। वीरेन्द्र सिंघई को आचार्यश्री ने क्षुल्लक दीक्षा प्रदान की और नाम रखा क्षुल्लक क्षमासागर। दीक्षा समारोह के पश्चात् आयोजित समारोह में विशाल जन समूह के समक्ष नवदीक्षित क्षुल्लक क्षमासागरजी के पिता श्रेष्ठी श्री सिंघई जीवनलालजी को भी अपनी भावनाएँ व्यक्त करने का अवसर प्रदान किया। सिंघई जीवनलाल जी ने अत्यन्त भावुक होकर जो कहा उसमें बुन्देलखण्डी भाषा का सौन्दर्य एवं आंचलिक बोली का माधुर्य अपने चरम को स्पर्श कर गया।

उन्होंने कहा– ''हे आचार्यदेव! मेरे पास चटनी बाँटने की एक ही बटिया थी उसे भी आपने ले लिया। वह मेरे भाग्य में न सही अब आप उसमें भव्य और दिव्य मूर्ति उत्कीर्ण कर देना। मेरा यह पुत्र मेरी आशाओं का केन्द्र था। एम॰ टेक॰ तक शिक्षित होने के कारण मैं स्वप्न में भी कल्पना नहीं करता था कि यह दिगम्बरी-दीक्षा लेने की पात्रता और क्षमता रखता है। मैं तो अपने पुत्र और पुत्री के साथ आपके दर्शन और दीक्षा समारोह देखने आया था। मैं निश्चय नहीं कर पा रहा, मैं बहुमूल्य को खोकर जा रहा हूँ या पाकर जा रहा हूँ। मेरा पुत्र प्रत्येक कार्य करने के पूर्व मेरे चरण स्पर्श करता था और आज मेरा हृदय उसके चरणों में नमन करने उसका आशीर्वाद पाने को व्याकुल है।''

आचार्यश्री ने प्रथम तो विनोद भरे स्वर में सिंघईजी की भाषा में ही उत्तर दिया–''सिंघईजी! आपने ठीक कहा कि आपके पास एक चटनी बाँटने की बटिया थी, पर आप चटनी पीस-पीस के घिस-घिस के उसे भी नष्ट कर देते। हमारे पास ही रहने दीजिए।'' फिर अत्यन्त गंभीर स्वर में कहा– ''मैं स्वयं आश्चर्यचकित हूँ। मैंने तो मात्र परीक्षा लेने हेतु केशलोंच की अनुमति प्रदान की थी। मैं तो उसके आन्तरिक भावों को जानना चाहता था, किन्तु वह परीक्षा में उत्तीर्ण रहा। विशुद्ध स्वर्ण निकला।'' इसी अवसर

पर उन्होंने अत्यन्त मार्मिक रहस्य का उद्‌घाटन किया– ''किस समय किस जीव के उद्धार का समय उदय में आ जाए किसी को पता नहीं। विरले भाग्यवान व्यक्तियों को ही ऐसा दुर्लभ दीक्षा समारोह देखने का पुण्य उदय होता है।''

क्षुल्लक क्षमासागरजी को आचार्यश्री ने मुक्तागिरि में ऐलक–दीक्षा एवं २० अगस्त,१९८२ में नैनागिरि पर मुनि–दीक्षा प्रदान की। श्रमण श्री क्षमासागर अत्यन्त संवेदनशील हैं, मनीषी हैं, चिन्तक हैं, प्रखर पारदृष्टा हैं, कुशल प्रवचन कर्ता हैं। जैनधर्म के प्राण अहिंसा का सन्देश जन–जन तक पहुँचा रहे हैं।

उनकी कृश देह में निर्मल आत्मा बैठी है, जो मरणधर्मी देह से, जन्म–मृत्यु के बंधनों से मुक्त होने साधनारत है। उनकी आकांक्षाएँ क्या हैं? उनकी उपलब्धि का आयाम क्या है? यह उनकी दुर्लभ काव्य कृति 'पगडंडी सूरज तक' में सहज उपलब्ध हो जाता है।

''मुझे कहना है वह शब्द
जिसे कहकर नि:शब्द हो जाऊँ
मुझे देना है अभी वह सब
जिसे देकर में निश्शेष हो जाऊँ?
मुझे रहना है इस तरह
कि मैं रहूँ
लेकिन मैं रह न जाऊँ॥''

वह एक निर्ग्रन्थ–श्रमण है, श्रमण–संस्कृति का उत्कर्ष है निर्बन्ध होना। निर्बन्ध होना ही निर्वाण है। वह कर्म कलुष से मुक्त होना चाहते हैं और कहते हैं–

''खोल दो ये बंध मेरे,
मैं बंधा कब तक रहूँगा
मौन में निर्बन्ध मेरे''

❑ ❑ ❑

नैनागिरि में दीक्षा समारोह के एक माह पश्चात् आचार्यश्री ने ससंघ द्रोणगिरि की ओर मंगल विहार किया। द्रोणगिरि कठिल और श्यामली आदि नदियों के मध्य स्थित है। निरन्तर प्रभावित होने वाली इन नदियों ने तीर्थक्षेत्र की प्राकृतिक सुन्दरता को अत्यन्त आह्लादकारी बना दिया है। यहाँ प्रकृति ने तपोभूमि की सुषमा के समस्त कोष को सुलभ कर दिया है। सघन वृक्षावली, निर्जन प्रदेश, वन्य पशु, चन्द्रभागा सरिता से निकले पर्वत से झरते झरनों से बने युगल कुण्ड इसे तपोभूमि की संज्ञा प्रदान कराते हैं। द्रोणगिरि निर्वाणक्षेत्र है।

आचार्यश्री संघ सहित दिनांक ०८.०३.१९८० को द्रोणगिरि पर्वत पर विराजमान थे। गुरुभक्ति के पश्चात् संघस्थ सदस्य शौच क्रिया के लिए वन-विहार कर गये। इसी समय ब्राह्मी आश्रम की संचालिका मणिबेन आश्रम की ब्रह्मचारिणी बहिनों सहित आचार्यश्री के दर्शनार्थ और देववन्दना के लिए आई। देव आराधना के लिए अष्टद्रव्य भी लाई थीं। आचार्यश्री ने कहा –''मुझे अष्टद्रव्य चाहिए, समयसागर को मुनि दीक्षा देनी है। मणिबेन ने द्रव्य से सज्जित थाली आचार्यश्री के सम्मुख रख दी और आचार्यश्री ने दीक्षा संस्कार प्रारम्भ कर दिया। उस समय पर्वत पर कोई श्रमण अथवा श्रावक नहीं था। दीक्षा उपरांत श्रावकों ने कहा–''आचार्यश्री! यदि पूर्व घोषणा उपरांत दीक्षा दी जाती तो धर्म प्रभावना बहुत होती।'' आचार्यश्री ने कहा, ''परिग्रह का त्याग करते समय क्या पूछना? त्याग प्रदर्शन रहित होना चाहिए।'' और उन्होंने अत्यन्त सारगर्भित बात बताई–

''दीक्षा की पूर्व निर्धारित घोषणा से दीक्षार्थी का गुणस्थान और विशुद्धि विशेष रूप से नहीं बन पाती। दीक्षा समारोह रखने का सार्वजनिक महत्त्व है। समाज दीक्षार्थी से परिचित हो जाता है इसे धर्म प्रभावना का अंग भी कह सकते हैं। दीक्षा को मात्र प्रदर्शन का रूप देना श्रमण आचार संहिता के अनुकूल नहीं है।''

द्रोणगिरि से मंगल विहार कर आचार्यश्री ससंघ सागर पधारे। सागर में आचार्यश्री का प्रथम बार आगमन था। समाज में असीम उत्साह था

विशाल जन समूह ने आचार्य संघ की अगवानी की। सागर में १५ अप्रैल, १९८० को योगसागरजी एवं नियमसागरजी को मुनिदीक्षा प्रदान की गई।

पंडित पन्नालालजी जैनदर्शन के सुप्रसिद्ध मनीषी विद्वान् हैं। उन्होंने आचार्यश्री से निवेदन किया, करणानुयोग के महान् ग्रन्थों के अध्ययन की परम्परा समाप्त हो रही है। षट्खण्डागम जैसे महान् ग्रन्थों के नाम तक से श्रमण संस्कृति के आराधक अपरिचित हैं। प्राचीनतम ग्रन्थों के अध्ययन की परम्परा की पुनर्स्थापना आवश्यक है। आचार्यश्री ने डॉ० पन्नालालजी के विचारों से सहमत होते हुए, षट्खण्डागम की वाचना की अनुमति प्रदान कर दी। इस महान् ग्रन्थ की वाचना हेतु जैनदर्शन के सुप्रसिद्ध विद्वानों को आमंत्रित किया गया। इस वाचना में सर्वश्री पंडित कैलाशचन्द्रजी, श्री फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री, पंडित जगन्मोहनलालजी शास्त्री, पंडित हीरालालजी, पंडित वंशीधरजी, डॉ० दरबारीलालजी कोठिया, सुमेरचन्दजी दिवाकर जैसे लब्ध प्रतिष्ठित विद्वान् पधारे।

अक्षय तृतीया, बैसाख सुदी ३, तदनुसार दिनांक १७ अप्रैल, १९८० को मोराजी, वर्णीभवन में वाचना प्रारम्भ हुई। आचार्य पीठ पर आचार्यश्री विद्यासागरजी विराजते। उनके निकट चरण सान्निध्य में सभी विद्वान् बैठते। विद्वानों में से प्रतिदिन क्रमशः एक विद्वान् प्राकृत भाषा में निबद्ध ग्रन्थ का पाठ करता, गाथाओं का अर्थ समझाता। शेष विद्वान् अपनी शंका निःसंकोच रखने में स्वतंत्र थे। यदि वाचक विद्वान् किसी शंका का समाधान करने में अपने को असमर्थ पाता, विषय-वस्तु स्पष्ट करने में अपने आपको असमर्थ पाता, तो आचार्यश्री विभिन्न आप्त ग्रन्थों के उदाहरणों सहित विषय-वस्तु को स्पष्ट करते। षट्खण्डागम धरसेनाचार्य की प्रज्ञा का दुर्लभ अमृत फल है। इस ग्रन्थ को महान् आचार्य पुष्पदंत एवं भूतबलि ने कांटों की तूलि से ताड़ पत्रों के वक्षस्थल पर लिखा है।

यह एक कर्म सिद्धान्त विषयक ग्रन्थ है। इसकी उत्पत्ति मूल द्वादशांग श्रुतस्कन्ध से हुई है। इसमें छह खण्ड हैं। जीवट्ठाणा, खुद्दाबंध, बंध स्वामित्व विचय, वेदना, वर्गणा, महाबंध। मूल ग्रन्थ के पाँच खण्ड प्राकृतभाषा में

सूत्र निबद्ध हैं। इसके पहले खण्ड के सूत्र आचार्य पुष्पदंत स्वामी (ई० ९६–१०६) द्वारा बनाए हुए हैं। उनके समाधिस्थ हो जाने के पश्चात् शेष चार खण्डों के सम्पूर्ण सूत्र आचार्य भूतबलि स्वामी द्वारा (ई० ६९–१५६) में बनाये। षट्खण्डागम की प्राचीनतम प्रतियाँ ताड़पत्रों पर लिखी है। मूड़बद्री कर्नाटक में सुरक्षित थीं, जिनके दर्शन करके ही श्रमण संस्कृति के आराधक अपने को सौभाग्यशाली समझते थे। षट्खण्डागम के अवतरण की कथा षट्खण्डागम के प्रकाशित प्रथम भाग में विस्तार से दी है। महान् आचार्य धरसेन, पुष्पदंत एवं भूतबलि की श्रमण-परम्परा शाश्वत ऋणी रहेगी। दिगम्बर परम्परा में धरसेनाचार्य ज्ञान-सूर्य की भाँति प्रसिद्ध हैं। इन्होंने कंठगत चले आये श्रुतज्ञान को सर्वप्रथम लिपिबद्ध करने का उपदेश दिया। आचार्यश्री विद्यासागरजी ने श्रुत की इस परम्परा को पुनर्जीवित किया और विस्मृत ज्ञान के इस अक्षय-कोष को मानव के अधरों पर ला बिठाया। आचार्यश्री के सान्निध्य में षट्खण्डागम की आठ वाचनाएँ क्रमशः, सागर, जबलपुर, सागर, जबलपुर, खुरई, पपौरा, ललितपुर, ललितपुर, जबलपुर में हो चुकी हैं। आचार्यश्री का अभिमत है कि षट्खण्डागम ज्ञान का अक्षय-कोष है। जैनदर्शन के सन्दर्भ में उत्पन्न शंकाओं और विरोधों को दूर करने के लिए औषधि है, अमृत है।

सागर में प्रथम षट्खण्डागम की वाचना के पश्चात् भव्य समापन समारोह रखा गया। समापन समारोह में विशाल जनसमूह उपस्थित था। विद्वानों और समाज-सेवियों की पूर्व निश्चित योजना के अनुसार एक प्रतिष्ठित समाज-सेवी ध्वनि विस्तारक के समीप आये और अपनी भावना व्यक्त करते हुए बोले –

''वर्तमानकाल में आचार्य श्री विद्यासागरजी ज्ञान और चारित्र की दुर्लभ विभूति हैं। षट्खण्डागम की वाचना का शुभारम्भ कर उन्होंने श्रुत की विलुप्त परम्परा को संजीवनी प्रदान की है। आज इस मंगलमय दिवस पर हम आचार्य श्री विद्यासागरजी को चारित्र-चक्रवर्ती की उपाधि से विभूषित करने जा रहे हैं।'' इतना सुनते ही उपस्थित जनसमूह ने चारित्र-

चक्रवर्ती आचार्य विद्यासागरजी की जय बोलना प्रारम्भ कर दिया। संचालक कार्यक्रम को गति देना चाहते थे किन्तु जयघोष रुक ही नहीं रहा था। श्रद्धालुजन आचार्यश्री की चरण-रज लेने उमड़ पड़े। उत्साह की पराकाष्ठा थी। आचार्यश्री ने ध्वनि विस्तारक स्वयं के समीप लाने का निर्देश दिया और कहा-"शांत हो जाइये और अपने-अपने स्थान पर बैठ जाइये।" आचार्यश्री की आज्ञा का तत्क्षण पालन हुआ और समारोह स्थल में नीरवता छा गई।

आचार्यश्री ने उपस्थित जनसमूह को गंभीर-स्वर में कहा-"मैं तो आप महानुभावों को बहुत विद्वान् समझता था किन्तु अभी आपने जो अपना अभिप्राय प्रकट किया वह विवेक का परिचायक नहीं है। मेरा अभिप्राय जाने बिना, अनुमति प्राप्त किये बिना, जो आपने घोषणा मुझे चारित्र-चक्रवर्ती पद देने हेतु की है, अभी तक हुई प्रभावना को अप्रभावना में परिवर्तित कर देगी।"

आचार्यश्री की वाणी में गंभीरता बढ़ती चली जा रही थी, वह बोले-आश्चर्य! राग-द्वेष में लिप्त समाज एक वीतरागी संत को उपाधि देना चाहता है। उपाधियाँ भी परिग्रह हैं और वे साधुओं को शोभा नहीं देतीं। सांसारिक-प्राणियों द्वारा वीतराग संत को उपाधि देने से उसकी मोक्षमार्ग की साधना में कौन-सा सम्बल मिलने वाला है? निर्ग्रन्थ साधु परिग्रह की समस्त ग्रन्थियों को तोड़कर मुक्तिमार्ग में प्रवृत्त होता है। जन्म-मृत्यु के बंधन तोड़ना ही, उनकी साधना का प्रमुख उद्देश्य है, यदि आप उनकी साधना में साधक न बन सकें तो कम से कम उपाधियाँ देकर उनके मार्ग में बाधक न बने। आयोजकों एवं जनसमूह ने आचार्यश्री से क्षमायाचना की। इस घटना के पश्चात् किसी भी नगर की समाज आचार्यश्री को किसी भी पद से अलंकृत करने की चेष्टा नहीं करती।

कार्यक्रम के समापन पर सुप्रसिद्ध पंडित कैलाशचन्द्रजी ने ग्रन्थराज के महत्त्व को प्रतिपादित किया, पश्चात् कहा "समाज का कर्तव्य है कि वह साधु को साधु रहने दे, उनकी श्रमणोचित चर्या के लिए अनुकूल

वातावरण प्रदान करे। इसी में श्रमण संस्कृति की भलाई है।''

वर्तमान में जितने भी श्रमण-पद से स्खलित हुए हैं, बिगड़े हैं, उनमें शिथिलाचार आया है, उसमें श्रावकों का योगदान ही सर्वाधिक है। समाज को श्रमणों की सम्यक्-साधना में साधक बनना चाहिए। अपने विचार श्रमणों पर आरोपित करने से साधु-चर्या में व्यवधान आता है। मैं विगत दस वर्षों से आचार्यश्री के चरण-सान्निध्य में आ रहा हूँ। जब भी दर्शन किये किसी तीर्थक्षेत्र पर ही किये हैं। सागर में आचार्यश्री का आगमन आपके अतिशय पुण्य का परिचायक है। सागर से आचार्यश्री मुक्तागिरि तीर्थ की ओर ससंघ प्रस्थान कर गये।

मुक्तागिरि की वन्दना कर तीर्थक्षेत्र नैनागिरि (म० प्र०) पर आचार्यश्री ने १९८१ और १९८२ में चतुर्मास किया।

❑ ❑ ❑

नैनागिरि तीर्थ पर आचार्यश्री का चातुर्मास ससंघ निर्विघ्न रूप से चल रहा था। अचानक ही आचार्यश्री अस्वस्थ हो गये। नैनागिरि के मध्य में स्थित देवालय की परिक्रमा में आचार्यश्री विराजमान थे। मध्यकाल में मैं आचार्यश्री के दर्शनों को गया। परिक्रमा में ही अन्य श्रमण भी साधनारत थे। परिक्रमा के जिस भाग में आचार्यश्री लेटे हुए थे, उस भाग को श्रद्धालु-भक्तों ने चटाईयों के माध्यम से कक्ष के रूप में परिवर्तित कर दिया था। आचार्यश्री के अस्वस्थ होने के कारण इस स्थल पर पाँव रखने भी स्थान शेष न था। श्रद्धालु जन परम्परागत विरक्ति-मूलक स्तुतिओं और गीतों का पाठ सामूहिक रूप से कर रहे थे। मैं परिक्रमा के दायीं ओर बैठे एक श्रमण से चर्चा कर रहा था। सौभाग्य से आचार्यश्री मेरी आवाज को पहचानते हैं। संकेत से उनने एक श्रावक को बुलाया और कहा –''समीप में बैठे श्रमण के पास एक कवि मिश्रीलाल आया है उसे बुला लाओ। आचार्यश्री की आज्ञा पाकर मैं गया और मैंने आचार्यश्री के श्री चरणों में नमन एवं वन्दन किया। विरक्ति मूलक गीत फिर गूँजने लगा–

राजा राणा, छत्रपति, हाथिन के असवार।
मरना सबको एक दिन अपनी-अपनी बार॥

आचार्यश्री ने जनसमूह को मौन रहने और कवि को काव्यपाठ का आदेश दिया। वातावरण आध्यात्मिक-चेतना से भर गया। परिक्रमा में गूँजती ध्वनि और प्रतिध्वनि ने वातावरण को सरस और मधुर बना दिया।

वर्षाकाल था किन्तु जलवृष्टि न होने के कारण वातावरण में उमस और गर्मी व्याप्त थी। सम्पूर्ण देह पसीने से नहा गई, किन्तु कवि निरन्तर सायंकाल तक स्वरचित एवं आगम-ग्रन्थों की गाथाओं के काव्य रूपान्तर-पढ़ता रहा। यथार्थ का बोध कराने की दृष्टि से कुछ गीतों और अनुवादों की पंक्तियाँ अंकित हैं-

अनुवाद

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते।
चिद् स्वाभावभावाय सर्वभावान्तरच्छिदे॥

स्वानुभाव से प्राप्त शुद्ध आत्मा
समय का सार
चेतना गुण से सदा संयुक्त
चर, अचर, अणु और स्कंध
जीव-अजीव में हर व्याप्त॥
परिवर्तन
जिनके ज्ञान दर्पण में
प्रतिक्षण झलकता है
वही है परमात्मा
वह परम ज्योति
शिव, निरंजन, बुद्ध
वह सर्वज्ञ
वीतरागी, आप्त

अविनाशी कहो
नाम बदला पर
न बदला अर्थ
जो निरपेक्ष दृष्टा है
उसे मेरा नमन है,

देह में है नित्य परिवर्तन
पथिक से प्राण
लहर सी तरल है
तारुण्य-अवस्था
मरण ध्रुव है नित्य
शाश्वत-सुखों की उपलब्धि हेतु
धर्म में अर्जित करो
निस्सीम-निष्ठा

दुख का जहाँ न क्रंदन
सुख का है न जहाँ कोलाहल
पीड़ाएँ जहाँ पहुँच न पाई
न बाधा न बंधन
चरण जन्म के पड़े नहीं हो
वहाँ मरण ही कैसे?
शब्दातीत निर्वाण
उसे शब्दों में बाँधू कैसे?

मैं चेतन हूँ, आदि ब्रह्म हूँ
मुझे मरण क्यूं डरा रहा है?
सिद्ध नाम मरघट संग मेरे
आगे मार्ग लिया है अपना
मैं अनन्त की दीप शिखा हूँ

मेरा क्या जलना, क्या बुझना?

नव अनुभूति के अक्षर है
जीवन क्या है?
एक अमर–छंद
मैं दीप शिखा सी जली,
बुझी पर ज्योति
सदा अपलक अमन्द।
लेते जन्म, साथ ही मरते

जनम–जनम की
यही कथा है
मैं उसमें वह मुझमें
लेकिन सत्य
किसी को नहीं पता है
मर घट से आगे बस्ती है
प्रज्ञा से पहचान लिया है
तृप्ति कहाँ है, प्यास कहाँ है?
स्वर अपना पहचान लिया है

संध्या का आगमन हुआ, अन्धकार परिक्रमा में धीरे–धीरे व्याप्त होने लगा। यह इस बात का संकेत था कि श्रमणों के मौन काल और सामायिक का समय निकट आ रहा है। यह जानकर श्रद्धालुओं ने परिक्रमा कक्ष को रिक्त कर दिया। आचार्यश्री को तीव्र ज्वर था। आचार्यश्री के सामायिक में विघ्न उपस्थित न हो इसलिए वह भी उनकी देह छोड़कर सूर्यास्त के साथ ही अज्ञात दिशा में दुबक गया।

मध्य रात्रि में गहरी निद्रा में सोया था किसी व्यक्ति ने जगाया और कहा शीघ्र पहाड़ी पर चलो आचार्यश्री का स्वास्थ्य गंभीर रूप धारण कर चुका है। अत्यन्त कष्टपूर्ण स्थिति है। आचार्यश्री अत्यन्त सावधानी और

समतापूर्वक कष्ट सहन कर रहे हैं। जिसने भी इस अप्रिय समाचार को सुना वह पहाड़ी की ओर दौड़ा चला जा रहा था। पहाड़ी पर जाकर देखा आचार्यश्री को अपार कष्ट था। वायु विकार के कारण श्वांस लेना भी कठिन हो रहा था। आचार्यश्री श्रमणों की चर्या का कठोरता से, सावधानी पूर्वक पालन करते हैं। रात्रि में मौन रहते हैं किन्तु उस तमस भरी रात में पीड़ा के कारण अत्यन्त मन्द-स्वर में णमोकारमन्त्र का पाठ कर रहे थे। यह उनकी पीड़ा की पराकाष्ठा थी। ऐसी विषम स्थिति में उनकी पीड़ा का उपचार खोजना असंभव प्रतीत हो रहा था।

आचार्यश्री के साथ उनके स्वर में स्वर मिलाते हुए मैंने भी णमोकार मन्त्र का पाठ प्रारंभ किया। आधे घंटे के पश्चात् आचार्यश्री का पाठ रुक गया और उन्हें गहरी निद्रा आ गई। इन क्षणों में अविचल विश्वास हुआ कि णमोकारमन्त्र सब कष्टों की एक मात्र औषधि है। देवालय से बाहर आकर देखा एक शिलाखण्ड पर बैठे आचार्यश्री के अनन्य भक्त श्री कजौड़ीमल जी बच्चों की तरह फूट-फूट कर रो रहे थे। प्रातः आचार्यश्री पूर्णतः स्वस्थ प्रतीत हो रहे थे। आहारचर्या के लिए निकले। विधि मिल गई पड़गाहन सफलता पूर्वक हुआ, किन्तु प्रकृति परीक्षा ले रही थी और अन्तराय कर्म अपनी शक्ति की श्रेष्ठता प्रमाणित करना चाहता था। आहार के समय किसी श्रावक ने औषधि दी। औषधि लेने के तत्काल पश्चात् ही अन्तराय कर्म उपस्थित हो गया और आचार्यश्री न आहार ले सके और न जल। दवा की गर्मी और पावस ऋतु में ग्रीष्म की उमस के कारण आचार्यश्री को अत्यन्त वेदना हुई। उनका कष्ट देखा नहीं जा रहा था किन्तु पीड़ा को नापने का यंत्र अभी तक वैज्ञानिक नहीं बना पाये हैं, इसलिए उस कष्ट को शब्दों में अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता।

मध्याह्न में पर्वत पर नहीं गया। विश्राम कर रहा था। सहसा नर-नारियों के दल के दल पहाड़ की ओर जाते दिखे। वातावरण में कोलाहल व्याप्त था। सुना श्रमण-संस्कृति का दुर्भाग्य जागने जा रहा है। आचार्यश्री कह रहे हैं। ''मैं सल्लेखना लूँगा।'' मैं आने वाले दुर्भाग्य और विषादपूर्ण

स्थिति के सन्दर्भ में चिन्तन कर रहा था। सहसा कुछ व्यक्ति दौड़ते मेरे समीप आए और बोले आप अविलम्ब पहाड़ पर चलिए आचार्य प्रवर सल्लेखना लेने का विचार व्यक्त कर रहे हैं। मैंने कहा–''मैं तत्काल चलता हूँ किन्तु मैं करूँगा क्या? दिगम्बर आचार्यों को सम्बोधन करना हम गृहस्थों के अधिकार क्षेत्र के बाहर की बात है। वे वर्तमान सदी के महान् आचार्य हैं और मैं सामान्य गृहस्थ, जो कुछ घटित होने जा रहा है उसे होनहार समझ कर देखो।''

समाज के उन व्यक्तियों ने कहा–

''हम भलीभाँति जानते हैं आप आचार्यश्री से चर्चा कर सकते हैं, कुछ दिन स्थिति देख अभी समाधिमरण न लें ऐसा उनसे अनुरोध कर सकते हैं, हममें से तो किसी में इतना साहस भी नहीं कि बात भी कर सकें।''

मैं उन लोगों के साथ पहाड़ी पर आचार्यश्री के पास गया और नमोऽस्तु अर्पित कर आचार्यश्री के समीप बैठ गया। आचार्यश्री ने आशीष देने हाथ उठाया तो कवि हृदय को लगा कह रहे हों–

आयु का पुष्प है,
कर्म की तूलिका।
सांसों से तुम लिखो
यश महाकाव्य है।

मैंने अनुकूल अवसर देखकर आचार्यश्री से कहा– ''गुरुदेव (सुना है कि आप समाधिमरण लेने की भावना व्यक्त कर रहे हैं।''

आचार्यश्री–''आपने सत्य ही सुना है, मैं समाधिमरण लूँगा।''

''गुरुदेव! आपकी युवा आयु है, रोग बहुत सामान्य है। ऐसी स्थिति में जैनदर्शन में प्रतिपादित सिद्धान्तों के अनुसार समाधिमरण व्रत लेने की भावना धर्मसंगत नहीं है।'' आचार्यश्री को श्वांस लेने में अत्यधिक कष्ट हो रहा था। प्रतीत होता था जैसे हृदय की धड़कन अनियंत्रित हो गई हो।

आचार्यश्री ने कहा–''क्या तुम मुझे जैनदर्शन में वर्णित सल्लेखना

सम्बन्धी ज्ञान सिखाने आये हो?''

मैंने कहा –''गुरुदेव! मुझ अल्पज्ञ की धृष्टता क्षमा करें। मैं अकिंचन संसारी प्राणी हूँ। आपको जैनदर्शन के सिद्धान्तों को समझाने की धृष्टता कैसे कर सकता हूँ? किन्तु कुण्डलपुर में आपके श्रीमुख से समाधिमरण पर प्रवचन सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था और वह मंगल प्रवचन मेरे स्मृति कोष में आज तक सुरक्षित है। उस प्रवचन में निहित तथ्यों के आधार पर यह कहने का साहस कर रहा हूँ कि समाधिमरण लेने हेतु उनमें से एक भी कारण मुझे दिखाई नहीं दे रहा। आपके हृदय में जो विचार उठा है वह सम्यक् नहीं है।''

''गुरुदेव! आप श्रमण-संस्कृति के कीर्ति-कलश हैं। आचार्यों के आचार्य हैं। आपकी भव्य और दिव्य-साधना देखकर श्रमणसंस्कृति चकित एवं पुलकित है। श्रमण-समाज अपने आदर्श आचार्य को असमय व्यर्थ जीवन नष्ट करने की अनुमोदना नहीं करेगा।''

यह सुनकर आचार्यश्री की वाणी में आवेश की झलक आ गई और वे पूर्व से ही कुछ तीव्र स्वर में बोले ''मैं मेरे रोग को भलीभाँति जानता हूँ, लक्षण पहचानता हूँ। तुम संसारी मोही प्राणी हो। मुझे साधना से स्खलित करना चाहते हो। मैंने श्रुत-साहित्य पढ़ा है, मैं समाधिमरण लूँगा। समाधिमरण व्रत लेने के पश्चात् मैं चेतना विहीन भी हो जाऊँ, साधना से स्खलित हो जाऊँ, तब भी अन्त समय तक मेरा पंचमगुणस्थान सुरक्षित रहेगा। मैं समाधिमरण व्रत लूँगा।''

यह सुनकर चेतना कांप गई। आचार्यश्री का निर्णायक निर्णय सुनकर लगा, अब इस अकिंचन के पास ऐसा कोई मन्त्र नहीं है जो कार्यकारी सिद्ध हो सके। पर माँ सरस्वती माँ जिनवाणी अत्यन्त उदार हैं। आदि तीर्थंकर वृषभदेव भगवान् ने जो सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं वे शाश्वत और अमूल्य हैं। सहसा मेरी स्मृति में एक विचार ने जन्म लिया किन्तु मेरी विनयपूर्वक प्रस्तुति अविनय न बन जाये इसलिए आचार्यश्री से कहने में संकोच हो रहा था। शब्द जिह्वा तक आते और रुक जाते, अभिव्यक्त नहीं हो रहे थे। यह

निर्णायक क्षण था यदि मेरे कहने से पूर्व आचार्यश्री के मुख से निकल गया कि मैं समाधिमरण लेता हूँ तो मरण नियति बन जायेगा।

हृदय पीड़ा से भरा था, वाणी में कम्पन था। मेरा शीश झुका हुआ था। दृष्टि आचार्यश्री के चरणों पर टिकी हुई थी। हृदय ने कहा विनय-अविनय पर विचार करने का समय नहीं, जो कहना चाहता है साहस पूर्वक कहा। यह मात्र श्रेष्ठ आचार्य के वियोग का सूचक नहीं एक युग के अन्त के समान है।

मैंने साहस कर कहा-''गुरुदेव! क्षमा करे आचार्यपद भी परिग्रह की श्रेणी में आता है और प्रत्येक आचार्य को समाधिमरण लेने के पूर्व आचार्य पद का परित्याग करना अनिवार्य है। आपके समीप नव दीक्षित शिष्य हैं, आप यह पद किसे देना चाहते हैं? यह सुनकर आचार्यश्री के चिन्तन की दिशा ही बदल गई। यह सुनकर आचार्यश्री ने इतना ही कहा - ''तो फिर''। मैंने विनम्रतापूर्वक कहा पंडित जगन्मोहनलालजी जैनदर्शन के शीर्षस्थ विद्वान् हैं, वर्तमान में वह प्रवचन करने हेतु इन्दौर पधारे हैं। सागर में सुप्रसिद्ध क्षुल्लकश्री सन्मतिसागरजी विराजमान हैं, उन्हें बुलवा लेते हैं। उनके आने के पश्चात् आप नवीन आचार्य का चयन कर, अपने आचार्य पद का परित्याग कर, उनके परामर्श के पश्चात् समाधिमरण व्रत स्वीकार करें। आचार्यपद का परित्याग और नवीन आचार्य की पद प्रतिष्ठापना धर्मसंगत निश्चित प्रक्रिया है, दोनों विद्वानों के आगमन पूर्व उसे सम्पादित किया जाना सम्भव नहीं है। अतएव आप दोनों विद्वानों के आगमन तक समाधिमरण लेने के संकल्प का परित्याग कर दे।

यह सुनकर आचार्यश्री ने कहा-''कहीं छल तो नहीं कर रहे हो।''

मैंने कहा-''गुरुदेव! मिथ्या बोलना मेरी प्रवृत्ति नहीं है। मैं शुद्ध और पवित्र अन्तःकरण से आपको विश्वास दिलाता हूँ कि दोनों विद्वानों को बुलाने समाज के प्रतिष्ठित व्यक्तियों को भेज रहा हूँ।'' गुरुदेव ने कहा- ''तब ठीक है।'' तीन या चार दिन पश्चात् क्षुल्लक सन्मतिसागरजी (वर्तमान में आचार्य सन्मतिसागरजी) और पंडित जगन्मोहनलालजी शास्त्री नैनागिरि

आये। सौभाग्य से उस समय तक आचार्यश्री रोगमुक्त हो चुके थे।

मैं घर लौटने से पूर्व आचार्यश्री का आशीर्वाद लेने गया। उस समय सन्मतिसागरजी भी आचार्यश्री के निकट बैठे थे। सन्मतिसागरजी ने आचार्यश्री से कहा –''क्या आप इस सुकवि को जानते है?'' आचार्यश्री के अधरों पर मन्द हास्य उतर आया। अभय मुद्रा में हाथ उठा। यात्रा सार्थक रही। लौटते समय मेरे मानस में एक ही विचार था–''दीपक की लौ कंपकपाई, पर बुझी नहीं।''

आचार्यश्री विद्यासागरजी ससंघ मदनगंज-किशनगढ़ (राजस्थान) में आयोजित पंचकल्याणक समारोह में सम्मिलित हुए। निर्जन तीर्थों पर चातुर्मास करने वाले एवं ग्रामानुग्राम बिना पूर्व सूचना के, बिना किसी पाथेय के विचरण करने वाले संन्यासी को भीड़ रास कहाँ आती है? वे खोजते हैं निर्जन-तीर्थ नीरव-वातावरण। राजस्थान के श्रद्धालुओं को आशा थी कि इस वर्ष आचार्यसंघ का चातुर्मास राजस्थान के किसी नगर में होगा, किन्तु आचार्यश्री के विहार एवं चातुर्मास के सन्दर्भ में सभी पूर्वानुमान मिथ्या हो जाते हैं। कोई नहीं जानता कि वह कब विहार करेंगे और किस स्थान पर चातुर्मास करेंगे? पंचकल्याणक समाप्त होते ही आचार्यश्री ने विहार प्रारंभ कर दिया। वह प्रतिदिन २५ से ३० किलोमीटर यात्रा करते। जब आचार्यश्री ने कोटा (राजस्थान) से अतिशय क्षेत्र चाँदखेड़ी की ओर प्रस्थान किया, उस समय गुना के श्रद्धालुओं ने निर्णय किया कि आचार्यश्री से गुना नगर में चातुर्मास करने की प्रार्थना की जाये। आठ दस व्यक्ति चाँदखेड़ी चल दिए। चाँदखेड़ी पहुँचने पर ज्ञात हुआ आचार्यश्री संघ सहित चाँदखेड़ी आये थे किन्तु अल्पकाल के पश्चात् ही विहार कर गये। अनुमान किया कि छबड़ा गये होंगे। चाँदखेड़ी में एक प्रौढ़ सज्जन मिले, निश्चित ही वह आचार्यश्री की दिव्य चर्या से अपरिचित रहे होंगे। आडम्बरविहीन विहार उन्होंने अपने जीवनकाल में देखा नहीं होगा। श्रमणों का नगरों में आगमन और विहार प्रदर्शन पूर्ण होता रहा है इन्हीं संस्कारों से बंधे वह बोले ''आये थे और चले गये''...की तरह। ये भी कोई...है। सब

के सब थे। उन्हें कुछ समझाना समय व्यर्थ करना था। मैंने उनसे इतना ही कहा आचार्य विद्यासागरजी एक युग हैं। श्रमण संस्कृति के जीवंत तीर्थ हैं।

चाँदखेड़ी में आदि तीर्थंकर ऋषभदेव भगवान् की मनोज्ञतम प्रतिमा के दर्शन किये और निर्णय किया कि छबड़ा पहुँचकर आचार्यसंघ की आगवानी की जाये। दूसरे दिन संध्या में ज्ञात हुआ कि आचार्यश्री छबड़ा से ६७ किलो मीटर की दूरी पर है।

आचार्यश्री की अगवानी करने छबड़ा के साधर्मियों सहित गये। छबड़ा से तीन किलो मीटर की दूरी पर आचार्यश्री के दर्शन किये और उन्हीं के साथ चल दिये। छबड़ा जब दो किलो मीटर दूर रह गया तब आचार्यश्री ने कहा–''संध्या आ गई, अल्प समय पश्चात् पथ स्पष्ट दिखाई नहीं देगा।'' इतना कहकर मार्ग की दायें ओर जलप्रवाह से बने मार्ग में बैठ गए। जल प्रवाह से बने इस स्थान पर रेत चमक रही थी वह मृदु भी थी और शीतल भी। आचार्यश्री से अनुरोध किया कि अभी रात्रि होने में पर्याप्त समय है। घड़ी देखकर उन्होंने कहा–''सूर्यास्त में पर्याप्त विलम्ब है, विहार होने दीजिए।''

आचार्यश्री ने आकाश की ओर संकेत करते हुए कहा, हमारी तो वो घड़ी है। पथ स्पष्ट नहीं दिख रहा। आचार्यश्री जब आगे विहार करने तैयार नहीं हुए तब उनसे निवेदन किया कि आचार्यश्री आप जिस स्थान पर बैठे हैं वह वर्षा के जल प्रवाह से बना है। पावस ऋतु प्रारम्भ हो चुकी है, यदि रात्रि में पानी बरसा तो आपके ऊपर से निकल जायेगा।

आचार्यश्री ने कहा–'' इसका भय किसे है? विशेष आग्रह करने पर आचार्यश्री सड़क के किनारे आकर बैठ गये। अल्पकाल तक चर्चा करते रहे। पश्चात् आचार्यश्री सहित सम्पूर्ण संघ सामायिक में लीन हो गया। नीरवता व्याप्त हो गई। प्रकृति के प्रांगण में मात्र पक्षियों का मधुर कलरव गूँज रहा था। छबड़ा के श्रावकों ने जल, तखत, गद्दे, तकियों की व्यवस्था श्रावकों के लिए की, किन्तु जब आचार्यश्री भूमि शयन कर रहे हों तब

उनका उपयोग कौन करता?

शुक्ल पक्ष, तिमिर भरी रात, छाए हुए बादल, चारों ओर सन्नाटा, ऐसे नीरव वातावरण में रात्रि व्यतीत करने का जीवन में प्रथम अनुभव हुआ।

प्रातः सामायिक के पश्चात् आचार्यश्री ने अनेक तखत, पानी के मटके और चटाईयों के ढेर को देखकर कहा– ''ये सर्कस का सामान किस लिए इकट्ठा किया है।'' छबड़ा में आचार्यश्री का मंगल प्रवचन हुआ। आचार्यश्री के चरणों में गुना वर्षावास करने हेतु श्रीफल भेंट कर लौट आये।

इस वर्ष वर्षा न होने के कारण अकाल की स्थिति बनी हुई थी, विहार करते हुए आचार्यश्री गुना के निकट एक ग्राम के कच्चे टपरे में रुके। पगतलियों में छाले पड़ गये थे। पगतलियों में अनेक कांटे चुभे हुए थे। बड़ी कठिनाई से आचार्यश्री ने कांटे निकालने की अनुमति प्रदान की। दिगम्बर श्रमणों की कितनी कठोर चर्या है। नीरस आहार, मात्र आहार के समय जल ग्रहण करना, तत्पश्चात् २४ घण्टे तक कोई भी वस्तु ग्रहण न करना और विहार के समय प्रतिदिन २५ से ३० मील पदयात्रा करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। आचार्य विद्यासागरजी वास्तव में परीषहजयी ऋषि हैं। देह के प्रति उनका कोई ममत्व शेष नहीं है। आचार्यश्री की साधना देखकर बार-बार उनके दर्शन करने और मंगल आशीर्वाद प्राप्त करने की लालसा बनी रहती है।

आचार्यश्री ससंघ गुना पधारे। प्रातः आहार के पश्चात् प्रवचन हुआ। भाव-भाषा और अभिव्यक्ति की दृष्टि से वह प्रवचन अद्भुत था।

संसार में ज्ञान को ही सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है किन्तु ज्ञान भी बहुत उपद्रव करता है। श्रद्धा को छोड़कर तर्क की ओर ले जाता है और अपना स्वार्थ खोजने लगता है। इसलिए सम्यग्दर्शनपूर्वक सम्यग्ज्ञान ही उपादेय है। मात्र ज्ञान उलझन उत्पन्न कर सकता है। मध्यान्तर उपरांत आचार्यश्री शांतिनाथ दिगम्बर जैन देवालय के प्रवचन भवन में बैठे थे, विश्वास था कि रात्रिविश्राम के पश्चात् प्रातः आचार्यश्री का विहार होगा किन्तु सहसा

आचार्यश्री उठे पिच्छिका-कमण्डलु उठाया और देवालय के द्वार पर किसी पथिक से अशोकनगर का मार्ग पूछा और चल दिये। आचार्यश्री, कुन्दन निवास तक पहुँचे उस समय मैं भी दौड़कर वहाँ पहुँच चुका था। मैंने आचार्यश्री के चरण पकड़ लिए।

आचार्यश्री ने कहा-''विहार में बाधा उत्पन्न न करो।''

मैंने कहा-''नहीं आचार्यश्री रात्रि विश्राम के पश्चात् ही विहार करना।'' आचार्यश्री ने कहा -''संकल्प अनुसार विहार प्रारम्भ हो चुका है।''

मैंने कहा संकल्प आपका, आप छोड़ भी सकते हैं। सुनकर आचार्यश्री गंभीर हो गये और बोले-''श्रमणों पर उपसर्ग आने का परिणाम जानते हो।'' इतना सुनते ही अश्रुपूरित नेत्रों से उनके चरण छोड़ दिये। पता नहीं उस दिन चरण छोड़े थे अथवा अनन्तकाल के लिए अन्तर आत्मा से पकड़ लिए थे।

आचार्यश्री आगे बढ़ गये। रह गई श्रद्धा भरी वेदना, वह भी तिरोहित हो गई। क्रोध उत्पन्न हुआ। अविवेक का दूसरा नाम ही क्रोध है। उसी समय कांधे पर खादी का झोला लटकाए, खादी के वस्त्र धारण किये हुए श्री विद्यार्थीजी एवं मेरे लघु एवं ज्येष्ठ भ्राता श्री रमेश एवं राजेन्द्र आ गए। मैंने विद्यार्थी जीसे आवेश में कहा-''आचार्यश्री का व्यवहार मेरी समझ में नहीं आया। इतनी बड़ी समाज की उपेक्षा आचार्यश्री को नहीं करनी चाहिए थी और बहुत कुछ जिसे अभिव्यक्त करने का आज मैं साहस नहीं जुटा पा रहा हूँ।'' विद्यार्थीजी ने अत्यन्त आत्मीयभाव से समझाया-बन्धु आपको भ्रम हुआ है। यह आचार्यश्री की स्वाभाविक एवं आगम अनुकूल चर्या का अंग है।'' आचार्यश्री अशोकनगर ही से ससंघ थूवौन पहुँचे।

क्रोध और अविवेक की आयु लम्बी नहीं होती, पश्चाताप हुआ, आचार्यश्री के चातुर्मास स्थापना दिवस पर आयोजित समारोह में मुझे भी काव्य पाठ हेतु अनुरोध किया। भावविभोर होकर मैंने पढ़ा-

देह में ज्यों लौटते हैं प्राण वैसे
इस विजन में देवता
तुम लौट आये
फूल, पंखुरियाँ चारित्र का
गंध अपने साथ लाये
मनुष क्या?
गुफाओं में विराजे
देवता तक मुस्कराये
खुशी से वर्षे, गगन के नयन
मूकमाटी में उगे अंकुर
प्रमुदित प्रकृति ने
मनुज संग
समवेत स्वर में
सृजन के नव गीत गाये
देवता तुम लौट आये

चातुर्मास कार्यक्रम की स्थापना के पश्चात् आचार्यश्री से भेंट की, अविनय की व्यथा-कथा सुनाई। आचार्यश्री निरन्तर मुस्कुराते रहे और वरदहस्त उठाकर आशीर्वाद दिया।

मैंने आचार्यश्री से विनम्रतापूर्वक अनुरोध किया कि-''वर्तमान युग के अनेक सुप्रसिद्ध जैनाचार्यों का विहार पूर्व निर्धारित और व्यवस्थित रहता है, यदि आप भी पूर्व निर्धारित कार्यक्रम अनुसार विहार करें तो श्रमण समाज को सुविधा होगी।'' आचार्यश्री के अधरों पर मुस्कान उभरी और बोले-''अन्य आचार्यों की तरह हमारा कार्यक्रम भी निश्चित है।'' अर्थ बोध न होने के कारण मैंने आश्चर्यचकित होकर पूछा, 'कैसे।' आचार्यश्री ने कहा-''हमारा सम्पूर्ण कार्यक्रम अनिश्चित ही निश्चित है'' और हँसने लगे। कितनी निश्छल हँसी हँसते हैं महाराज। फिर बोले आगम में श्रमणों

को दो प्रकार का विहार वर्णित है, एक नियत और दूसरा अनियत। मैं अनियत विहार में विश्वास रखता हूँ। आचार्यश्री के मुख से मधुर कविताएँ सुनीं, कुछ सुनाईं और उनके सान्निध्य से आध्यात्मिक–सुखानुभूति लिए घर लौटा।

थूवौन आचार्यश्री के दर्शनों को अनेक बार गया। वर्षावास की निर्धारित अवधि समाप्त हो चुकी, किसी भी दिन विहार हो सकता था। मैं थूवौन गया। आहार के पश्चात् एक विशाल शिलाखण्ड पर आचार्यश्री विराजमान थे। चारों ओर हरियाली फैली हुई थी। आसपास की झाड़ियों में दुबके पक्षी कलरव गान कर रहे थे। प्रकृति के निर्मल, निश्छल वातावरण में नैसर्गिक–शिलाखण्ड पर प्राकृतिक दिगम्बर संत के दर्शन करने का आनन्द ही अद्भुत था। आचार्यप्रवर अत्यन्त प्रसन्न मुद्रा में थे। शिलाखण्ड के चारों ओर दर्शक बैठे थे। अशोकनगर के सुप्रसिद्ध संगीतज्ञ श्री सुहागी जी प्राचीन कवियों के भजन सुना रहे थे। वातावरण पूर्णतः शांत था और सुहागी की मधुरध्वनि गूँज रही थी–''अब हम अमर भये न मरेंगे''

उन्होंने अनेक गीत सुनाये। उनके पश्चात् मैंने आचार्यश्री से नवीनतम कविताएँ सुनने का अनुरोध किया। आचार्यश्री ने आदेश दिया, पहले आप सुनाएँ। दो गीत मैंने पढ़े, कुछ पंक्तियाँ अंकित हैं–

तुलसी के राम, जैसे मीरा के कृष्ण हैं
मेरे गीतों में वैसे ही अरिहन्त हैं
समय की शिला पर वह
कालजयी अक्षर हैं
मुक्ति के शाश्वत स्वर
किन्तु निरक्षर हैं
बाँध लिया गीतों में जो कि निर्बन्ध है

पश्चात् आचार्यश्री ने कविताएँ सुनाई। कविताएँ क्या थीं? एक मन्त्रदृष्टा कवि की ऋचाएँ। कविताएँ सुनकर वातावरण में एक नई स्फूर्ति व्याप्त हो गई। आचार्यश्री ने कहा–''सामायिक का समय हो गया'' और

उठकर चल दिए। मैं भी उनके पीछे-पीछे चल दिया। संग्रहालय जहाँ आचार्यश्री रुके थे। वहाँ पहुँच कर अनुरोध किया। सामायिक के पश्चात् साहित्य सृजन के संदर्भ में मार्गदर्शन दीजिए-'बोले' देखो। उस दिन थूवौन में लगभग दस हजार यात्री थे। आचार्यश्री सामायिक से उठे और पिच्छिका-कमंडलु उठाकर चल दिए। जो भी जिस कार्य में व्यस्त था उस कार्य को छोड़कर आचार्यश्री के दर्शनों को दौड़ पड़ा, चरण छूने गया, व्याकुल हो उठा। थूवौन जहाँ मेले का दृश्य था; विघटित होने लगा। संध्या तक वातावरण में नीरवता छा गई।

जीवन स्वयं एक सांसों की यात्रा है, जब तक मुक्ति न हो, परिभ्रमण उसकी नियति है। एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना भी यात्रा है। श्रमण पद-विहारी एवं अविराम-यात्री होते हैं। यह उनकी आचार-संहिता का अंग है। दीर्घकाल तक एक स्थान पर रुकना मोह को जन्म देता है और श्रमण-साधना में यह सबसे बाधक तत्त्व है। दिगम्बर श्रमणों का विहार कितना कठिन और परीषहपूर्ण होता है, यह केवल वही व्यक्ति जान सकता है, जिसने दिगम्बर-श्रमणों के साथ पद-यात्रा की हो। नियत समय पर वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, सामायिक करते हुए यात्रा करना दुष्कर कार्य है। सामान्य व्यक्ति द्वारा तो इसकी मात्र कल्पना ही की जा सकती है।

शिशिर ऋतु में मुक्तागिरि से विहार करते हुए १० दिसम्बर, १९८२ को आचार्य संघ का कटनी में पदार्पण हुआ। मुक्तागिरि से अनवरत पद यात्रा करते हुए पच्चीस दिनों में ५०० किलोमीटर की यात्रा की थी। दीर्घ यात्रा कर आचार्यश्री कटनी पधारे थे। श्रद्धालुओं को विश्वास था कि दीर्घ यात्रा के पश्चात् आचार्यश्री न्यूनतम एक सप्ताह कटनी रुकेंगे। कटनी में प्रवेश करने के पश्चात् आचार्यश्री ने सिद्धक्षेत्र तीर्थराज सम्मेदशिखरजी जाने की भावना व्यक्त की और प्रवेश दिनांक के ही मध्यान्तर में आचार्यश्री ने ससंघ विहार कर दिया। विहार के पूर्व श्रावकों ने आचार्यश्री से अनुरोध किया-"आचार्यश्री यात्रा बहुत लम्बी है, मार्ग में दूर-दूर तक श्रावकों के घर नहीं हैं, अनेक स्थानों पर आहार-चर्या सम्भव नहीं है। हमें आहारचर्या

का निर्वाह करने साथ चलने की अनुमति प्रदान कीजिए।''

आचार्यश्री ने स्पष्ट शब्दों में कहा–''यदि संघ का पुण्य शेष होगा तो प्रवास में कोई कठिनाई नहीं होगी। मेरे और संघ के निमित्त विहार में साथ चलने की आवश्यकता नहीं है।''

श्रद्धालु श्रावकों ने कहा–''हम सभी तीर्थयात्री के रूप में पद-यात्रा करेंगे। आचार्यश्री मौन हो गये। कटनी से शिखरजी तक का यात्रा-वृत्तान्त श्री धन्नालालजी ने कटनी में लिपिबद्ध किया।

कटनी से १८ दिसम्बर, १९८२ को विहार आरम्भ हुआ और १५ से २५ किलोमीटर प्रतिदिन पद-यात्रा करते आचार्य-संघ २४ जनवरी, १९८३ को तीर्थराज शिखरजी पहुँचा।

दुर्गम-पथ, बियावान-जंगल, हिंसक-पशु, भयंकर-शीतपरीषह को सहते हुए आचार्य-संघ शिखरजी पहुँचा था। यात्रा में स्थान-स्थान पर आचार्यश्री के मंगल प्रवचन हुए। उनकी अमृतमयी वाणी सुनकर अनेक व्यक्तियों ने स्वप्रेरणा से मांस, मदिरा, मधु का परित्याग किया। इस यात्रा में आचार्यश्री चिरमिरी भी पधारे। चिरमिरी के इतिहास में इस स्थान पर कभी दिगम्बर संतों के चरण पड़ने का कोई सन्दर्भ नहीं मिलता। चिरमिरी कोयला खदानों के लिए प्रसिद्ध है। आचार्यश्री के प्रवचन दिवस पर सभी कोयला खदानों में अवकाश घोषित किया गया। तीर्थराज सम्मेदशिखरजी में आचार्य संघ के मंगल पदार्पण का दृश्य अलौकिक था। भक्तों में अभूतपूर्व आनन्द की लहर व्याप्त थी।

सम्पूर्ण तीर्थक्षेत्रों में शिखरजी सर्वप्रमुख तीर्थक्षेत्र है। इस क्षेत्र की पावनता का अनुमान इस सत्य से होता है कि चौबीस तीर्थंकरों में से बीस तीर्थंकर इसी क्षेत्र से मुक्त हुए हैं। अनुश्रुति के अनुसार श्री सम्मेदशिखरजी और अयोध्या अनादिनिधन शाश्वत तीर्थ हैं। आचार्य विद्यासागरजी प्रत्येक दिन सम्मेदशिखरजी की वन्दना करते। एक जीवंत तीर्थ के जिन्होंने महान् तीर्थ पर दर्शन किये, वे अलौकिक स्मृति लेकर लौटे। इस तीर्थ पर निशंकसागर, समतासागर, स्वभावसागर, समाधिसागर, करुणासागर,

दयासागर, अभयसागर–ब्रह्मचारियों को ऐलक–पद की दीक्षा प्रदान की गई। शिखरजी में अधिक भीड़ होने के कारण आचार्यश्री पार्श्वनाथ मूल उदासीन आश्रम ईसरी लौट आये।

ईसरी में सर्वश्री सुधासागरजी, श्री सरलसागरजी, श्री समतासागरजी, श्री स्वभावसागरजी, श्री समाधिसागरजी को मुनि–दीक्षा प्रदान की गई।

आचार्यश्री के ईसरी प्रवास काल में कुछ ऐसी घटनाएँ घटित हुईं, जिन्हें श्रमण–संस्कृति का इतिहास कभी विस्मरण नहीं कर पायेगा।

आचार्यश्री के जन्मदाता मल्लप्पा जिनकी पावन गोदी में बैठकर बालक विद्याधर ने वर्णमाला के अक्षर सीखे थे, जिनकी अंगुली पकड़ कर चलना सीखा था। यौवन की देहरी पर चरण रखने तक जिन्होंने सदाचरण का पाठ पढ़ाया था, उनके आज सन्दर्भ पूर्णतः बदले हुए थे। आज मल्लप्पा दिगम्बरी दीक्षा धारण कर श्रमण मल्लिसागर के नाम से प्रसिद्ध हैं और रत्नत्रय की साधना कर रहे हैं और विद्याधर आचार्य विद्यासागर के रूप में ज्ञान और साधना की समन्वित प्रतिभा से श्रमण–संस्कृति का नया इतिहास लिख रहे हैं। आचार्य विद्यासागर युग संत के रूप में प्रसिद्ध हैं।

माघ शुक्ल पंचमी, संवत् २०३२ में मल्लप्पाजी ने आचार्यश्री धर्मसागरजी से मुनि–दीक्षा ग्रहण की थी। उस समय आचार्य धर्मसागरजी ने कहा था–"प्रथम आप ऐलक दीक्षा लीजिए।" मल्लप्पाजी ने बहुत ही मार्मिक उत्तर दिया था।" धोती छोड़ने में पचास वर्ष लग गये? लंगोटी छोड़ने में न जाने कितना समय लगे? कृपया दिगम्बरी दीक्षा दीजिए।" श्रमण–दीक्षा लेने के पश्चात् श्रमण मल्लिसागरजी ने आचार्य विद्यासागरजी के दर्शन नहीं किये थे। उनकी हार्दिक भावना थी कि युग के महान् आचार्य वाग्मी मनीषी, अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी, तपस्वी आचार्यश्री विद्यासागर जी के दर्शन करें। आचार्यश्री विद्यासागरजी के प्रवासकाल में विहार करते हुए श्रमण मल्लिसागरजी आचार्यश्री के दर्शनों को आये। लौकिक जीवन के सम्बन्धों की इति हो चुकी थी। श्रमण मल्लिसागरजी ने आचार्य विद्यासागरजी की वन्दना की, चरणरज ली। आचार्यश्री विद्यासागरजी ने

आशीष मुद्रा में हाथ उठाया।

यह क्षण एक इतिहास बन गया। पुत्र युग का श्रेष्ठ दिगम्बर आचार्य और पिता निर्ग्रन्थ श्रमण अपनी रत्नत्रय की साधना के लिए आशीर्वाद माँग रहा है। संसृति में ऐसा दुर्लभ-दृश्य क्या किसी ने देखा होगा? कौन जाने कितने युगों के पश्चात् ऐसे अद्भुत क्षण की पुनर्वृत्ति होगी। उस क्षण श्रमण मल्लिसागर और आचार्य विद्यासागर के मानस में कैसे विचार उठ रहे होंगे? उन्हें कौन पढ़ सकता है? कौन लिख सकता है? किन्तु मुक्तिपथ के दो यात्री एक दूसरे की साधना को देखकर आध्यात्मिक-आनन्द में डूब गये होंगे। आदि तीर्थंकर ऋषभदेव भगवान् का सारा परिवार वैरागी हो गया था। आदिकाल में घटित इस घटना की-सी पुनर्वृत्ति वर्तमान कलिकाल में हुई। आचार्य विद्यासागरजी के माता-पिता, दो भाई, दो बहिन रत्नत्रय की साधना में रत हैं। आचार्य विद्यासागरजी ही नहीं सम्पूर्ण परिवार ही प्रणम्य है। आध्यात्मिक-साधना में आयु अर्थहीन है, सम्बन्ध निरर्थक है। प्रणम्य है, जन्म-मृत्यु से विमुक्त होने की साधना। जो अस्थियों से बँधा है वह संसारी प्राणी है और जो निर्ग्रन्थ है, वह मुक्त है।

पिता, पुत्र का मिलन,
पर बदला हुआ सन्दर्भ
एक है आचार्य अनुपम
दूसरा है संत
यात्राएँ पृथक्, पर
गंतव्य पावन एक
देवता दोनों रहें
युग, युगों तक जयवंत।

❑ ❑ ❑

सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री जिनेन्द्रवर्णी ने क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण की किन्तु यक्ष्मा रोग से ग्रसित होने के कारण वह अपने पद की सुरक्षा न कर सके। रोग भयंकर रूप धारण कर चुका था, इसलिए शल्य चिकित्सा द्वारा दायाँ

फेफड़ा भी निकलवाना पड़ा था। कृश-काय देह से उन्होंने माँ जिनवाणी-सरस्वती की ऐसी दुर्लभ-साधना की, कि वह कीर्ति के अक्षय-शिला लेख बन गये। '**जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश**' श्रमण-संस्कृति और विश्व साहित्य को उनकी अमर देन है। यदि इस कोश का पाश्चात्य भाषाओं में अनुवाद हो जाये, तो विश्व साहित्य निःसंकोच उनका उपकार मानने के लिए बाध्य होगा। जिनेन्द्र वर्णी को महान् विद्वान् मानने के लिए बाध्य होगा। जिनेन्द्र वर्णी महान् विद्वान् होने के पश्चात् भी विनम्रता की प्रतिमूर्ति थे। कोश की प्रस्तावना में उन्होंने लिखा ''प्रस्तुत कोश की रचना का श्रेय वास्तव में उन ऋषियों और आचार्यों को है, जिनके वाक्यांश इसमें संग्रहीत हैं। मेरी तो इसमें अज्ञता ही प्रकट होती है कि मैं इन्हें स्मृति में संजोकर न रख सका इसलिए लिपिबद्ध करके रखा।

मुक्तागिरि चातुर्मास के समय वर्णीजी आचार्यश्री की चरण शरण में गये थे। मौखिक रूप से अपनी अभिलाषा प्रस्तुत करने में अपने को असमर्थ पा रहे थे, अतः लिपिबद्ध आत्म निवेदन लाये थे। पत्र में आचार्यश्री के प्रति उनकी श्रद्धा-भक्ति की पराकाष्ठा थी। उस समय वह ब्रह्मचर्य अवस्था में थे और अपने पूर्व पद पर दीक्षित होने की अभिलाषा रखते थे। आचार्यश्री विद्यासागरजी ने उन्हें दशमी प्रतिमा के व्रत दिये और निर्देश दिया-''लौटकर जाओ, साहित्यिक अधूरे कार्यों को पूरा करो और अपनी भूमिका बनाओ।'' गुरु आदेश पाकर श्री जिनेन्द्र वर्णी मुक्तागिरि से लौट गये। ग्रीष्म ऋतु में जिनेन्द्र वर्णी ईसरी में आचार्यश्री की चरण-शरण में आये और क्षुल्लक दीक्षा देने हेतु कामना व्यक्त की। आचार्यश्री विद्यासागर जी ने उन्हें विधिवत् क्षुल्लक दीक्षा प्रदान की और नाम दिया सिद्धान्तसागर।

वर्णीजी की जीर्ण काया मरण के देहरी पर खड़ी थी, मृत्यु के प्रभंजन का हलका-सा झोंका जीवन दीप को बुझा सकता था। काल के प्रभंजन से जीवन दीप बुझे, इसके पूर्व ही वर्णीजी स्वेच्छा से नश्वर काया को ममतामयी मृत्यु माता की गोद में अर्पित करना चाहते थे। वे कहते-''देह को, नाश को प्राप्त होने में मरण का क्या दोष? क्योंकि जीवन तो

आयु-कर्म के आधीन है। क्षुल्लक दीक्षा के पश्चात् वर्णी जी ने समाधिमरण व्रत देने की कामना की।

आचार्यश्री ने समाधिमरण व्रत प्रदान किया और कहा–"श्रमणों की जीवनपर्यन्त की उपलब्धि का नाम है समाधिमरण। मरण और मृत्यु जैसे शब्द, श्रमणों के शब्दकोश में नहीं है। उनकी यात्रा का गंतव्य है निर्वाण, न जहाँ जन्म है न मृत्यु। मात्र शाश्वत आनन्द। निर्वाण अनुपम, अनुपमेय उपलब्धि है, अनुभूति है, उसकी अभिव्यक्ति शब्दों की सीमा से परे है वत्स। उसे प्राप्त करना है।"

दुख का जहाँ न क्रन्दन,
सुख का है न जहाँ कोलाहल
पीड़ाएँ जहाँ पहुँच न पाई,
न बाधा न बंधन
चरण जन्म के पड़े नहीं हों
वहाँ मरण हो कैसे?
शब्दातीत निर्वाण उसे
शब्दों में बाँधू कैसे ?

क्षुल्लक सिद्धान्तसागरजी ने समाधिमरण व्रत लेकर आचार्यश्री के चरणों में प्रणाम किया। आशीर्वाद स्वरूप गुरुदेव ने मयूर पिच्छिका साधक के शीश पर रखी। उसका मृदुल और पावन स्पर्श पाकर सिद्धान्तसागरजी पुलकित हो उठे। मृत्यु को ममतामयी-माँ समझ कर उसकी गोद में आलिंगन में समाधिपूर्वक जागृत अवस्था में जाने तत्पर हो गये।

सल्लेखनाकाल प्रारम्भ हुआ। प्रथम आहार का त्याग किया, पश्चात् रसों का, अन्त में जल का भी परित्याग कर दिया। आचार्यश्री के सान्निध्य में निर्ग्रन्थ की सारी ग्रन्थियाँ टूट चुकी थीं। युग महासन्त के श्रीमुख से अन्तिम सन्देश सुनते-सुनते वे २५ मई, १९८३ को संसार-सागर पार कर गये। आचार्यश्री के सम्बोधन से उनकी चेतना आत्मप्रदेशों में केन्द्रित हो गई थी। सांसों का पक्षी उड़ा पर किस दिशा में उड़ा? कोई जान नहीं सका।

शेष रह गई संसारी-प्राणियों के मध्य उनकी सुख-दुख भरी अनुभूतियों की स्मृति और कीर्ति। समाधिमरण संसारी प्राणियों के लिए भले ही शोक-दिवस हो, किन्तु श्रमणों के लिए वह महापर्व है।

ज्योति ज्योति में मिली
समाधि मरण बना महापर्व
जीवन महाकाव्य का लिख गये
वर्णी अन्तिम सर्ग।

दिसम्बर १९९१ में आचार्य विद्यासागरजी मढ़ियाजी जबलपुर में ससंघ विराजमान थे। मैं चिकित्सा हेतु जबलपुर गया। संध्या में विशेष चिकित्सक के पास परीक्षण एवं निदान हेतु गया। मेरे आत्मीय श्री सन्मत जैन बीमारी की अवस्था में ही आचार्यश्री के दर्शनों को ले गये। उच्च रक्तचाप के कारण देह में कंपन था, उसी अवस्था में आचार्यश्री के दर्शन किये। दर्शन करने के पश्चात् सन्मतजी ने कहा-''आप स्वस्थ हो जायेंगे।'' मैंने आश्चर्य से पूछा-''इस विश्वास का कारण क्या है?'' उन्होंने कहा-''मैंने आचार्यश्री के अनेक बार दर्शन किये किन्तु किसी के शीश पर वरदहस्त और पिच्छिका रखते नहीं देखा।'' श्रमण-संस्कृति के महान् तपस्वी का आशीर्वाद निष्फल नहीं जा सकता। आचार्यश्री के दर्शन कर पूज्य श्रमण योगसागरजी के दर्शनों को गया। उनकी मंगल प्रेरणा से आचार्यश्री के जीवन-दर्शन पर आधारित कृति ''ज्योतिर्मय की दिव्य यात्रा'' लिख रहा था और उनका मंगल आशीर्वाद मेरा मार्ग-प्रशस्त कर रहा था।

मैंने मुनिश्री योगसागरजी के चरण वन्दन कर कहा-''मुनिश्री! मैं बहुत अस्वस्थ हूँ और मुझे प्रतीत होता है कि मैं आचार्यश्री के जीवन-दर्शन पर आधारित कृति पूर्ण नहीं कर सकूँगा।''

श्रमण श्री योगसागरजी ने अत्यन्त आत्मविश्वास के साथ कहा-''कृति तो आपको ही पूर्ण करनी है। आप स्वस्थ हो जायेंगे, विश्वास रखें।'' उनका आत्मविश्वास आज साकार रूप ग्रहण कर रहा है।

आचार्यश्री के वरदहस्त और पिच्छिका के पावन एवं मृदुल स्पर्श ने जीवन प्रदान किया है। उनका मंगल आशीर्वाद दिव्य-औषधि है। मैं अपना शेष जीवन उनके पावन स्मरण सहित व्यतीत कर रहा हूँ। ''ज्योतिर्मय निर्ग्रन्थ'' मेरे समर्पण की प्रथम शृंखला है।

''आध्यात्मिक-परितृप्ति, खड़-खड़ काया, ऐसी जैसी आग में विदग्ध स्वर्णलता। अभय की जीवन्त प्रतिमूर्ति। रोम रोम आज भी जहाँ तहाँ बालक विद्याधर सा ही भोलापन, वैसी ही निरीह निष्काम मुद्रा। सात सुरों के लय पुरुष, संगीत में गहरी रुचि, कवि, भाषाविद्, दुर्द्धर-साधक तेजोमय तपस्वी। बोलने में मंत्र-मुग्धता, आचरण में स्पष्टता, कहीं कोई प्रचार-प्रसार की कामना नहीं।'' सर्वत्र सुख-शांति, महान् मनीषी और तेजस्वी, तपोधन, जीवन्त तीर्थ, निर्ग्रन्थ दिगम्बर आचार्य रामटेक में चातुर्मास ससंघ कर रहे हैं। जयवंत हो।

शाश्वत है मुक्ति पथ अरिहन्त का,
अनुकरण करता चरण निर्ग्रन्थ का।
दिव्य, ज्योतिर्मय है जिनकी साधना,
विद्यासागर नाम है उस संत का॥

(तीर्थंकर से साभार)

❑ ❑ ❑